भागवती कथा खंड २१

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्भागवत-दर्शन—

# भागवती-कथा

## (इकीसवाँ खण्ड)

*व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता।*
*कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥*

—:o:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

—:o:—

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

द्वितीय संस्करण
१००० प्रति

श्रावण—२०२३ विक्र०

मू० १-२५ पै०

# विषय-सूची

# इन्द्रादि देवों द्वारा नृसिंह स्तुति

( ४८६ )

प्रत्यानीताः परमभवता त्रायता नः स्वभागा ।
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधि ॥
कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते ।
मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम् ॥*

( श्री भा० ७ स्क० ८ अ० ४२ श्लो० )

छप्पय

इन्द्र कहैं हरि हमें असुर मख भाग न दीये।
करवाये लघु काज सदा अपमानित कीये॥
करुणासिन्धु कृपालु कृपा करि सुर रिपु मार्यो।
सुर गन अति ई दुखित दुष्ट हनि दुख सब टार्यो॥
ऋषि बोले तब तपहि तनु, करै सदा परि भय भयो।
मैंटे सब तप असुर ने, तिहि हनि तप अवसर दयो॥

किसी व्यक्ति के मरने पर जो हर्ष या शोक प्रकट करते हैं, वह प्रायः अपने स्वार्थ को सम्मुख रख

---

* भगवान् नृसिंह की स्तुति करते हुए देवेन्द्र कह रहे हैं—"हे परमात्मन्! आप हमारी रक्षा करके जो हमें यज्ञ भाग दिया था उसे लौटा कर हमें दे दिया। आपका घर जो हमारा हृदय रूप कमल है वह दैत्य के भय के कारण मुँद गया था, उसे पुनः आपने विकसित कर दिया।

कर करते हैं। पत्नी कहती है अब मेरा भरण पोषण कौन करेगा, पुत्र कहता है, अब हमारी देख रेख कौन करेगा ? पुत्री कहती है, अब हमें दान दहेज कौन देगा, कौन प्यार करेगा ? इसका कारण यही है, कि दुःख सुख का अनुभव अपने से ही होता है। अपने दुःख से ही दुःख और अपने ही सुख से सुख अनुभव होता है। हिरण्यकशिपु के शासन से सभी देव उपदेव दुखी थे। जब वह मर गया तो सभी आकर अपने अपने दुःखों को बताकर भगवान् के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने लगे।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! जब ब्रह्माजी और भोले बाबा, दोनों ही स्तुति कर चुके, तब देवताओं के इन्द्र शचीपति श्री नरहरि के सम्मुख आये और दूर से ही हाथ जोड़कर कहने लगे—"हे परमात्मन् ! हे अखिल भुवनेश्वर ! हे अशरणशरण ! आप यज्ञपति हैं। यज्ञों के भोक्ता वास्तव में आप ही हैं। आपके अंशभूत होने से हम यज्ञों के भागों को पाते थे। उसी से हमारा निर्वाह होता था। इस दुष्ट ने हमारा वह यज्ञ भाग भी छीन लिया था। स्वयं इन्द्र बनकर यज्ञों के भोगों को भी ग्रहण करता था, और वृष्टि आदि भी स्वयं ही करता था। आपने इस दुष्ट को मारकर मानों अपने ही यज्ञ भागों को लौटा लिया। अतः हम आपकी कृपा से आपके दिए हुए यज्ञ भागों को आपके ही अंशों से आपकी ही शक्ति द्वारा भोग करेंगे।

प्रभो ! पहिले हमारे हृदय में सदा आपकी मन मोहिनी मधुर मूरति नाचती रहती थी, पहिले हमारा हृदय कमल आपकी कृपारूपी किरणों के लगने से, और अनुग्रह रूपी वारि से सदा प्रफुल्लित और विकसित रहते थे। जबसे इस दुष्ट

की निशारूपी सत्ता स्थापित हुई और कर्कशता रूपी कीच अधिकाधिक सूखने लगी, तबसे हमारा मन मुकर मुरझा कर मुँद सा गया था। आज आपने कृपावृष्टि करके उसे प्रेम रूप वारि से प्लावित करके अप्रचण्ड तेजरूप दिवाकर को उदित करके उसे पुनः नव जीवनदान करके विकसित कर दिया। हे सर्वेश्वर! आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।"

हे देव! हमें लोग प्रायः स्वार्थी कहा करते हैं, और हम लोग प्रायः भोग प्रधान होते भी हैं, किन्तु आपके चरणों में आकर भी हम भोगों की याचना करें यह अत्यन्त ही क्षुद्रता है। भला जो भोग मोक्ष के स्वामी हैं, उनसे ये नश्वर तुच्छ संसारी भोग क्या माँगने। ये सब तो नाशवान और कालग्रस्त हैं; जिन्हें आपकी कृपा प्राप्त है, वे तो मुक्ति को भी तुच्छ समझते हैं, फिर भोगों की तो बात ही क्या? अतः प्रभो! हमें आपकी दया चाहिए। आप हमारे ऊपर अनुग्रह की वृष्टि करें कृपा की दृष्टि से हमें देखें।

देवेन्द्र शतक्रतु के चुप हो जाने पर सब ऋषि गण अपनी दाढ़ी और जटाओं को सम्हाल कर हाथ में पुष्प लेकर कहने लगे—"हे तपोमूर्ति! हे आदि देव! जब आपने सृष्टि की थी और हमारे पूर्वज भगवान् ब्रह्मा को उत्पन्न किया था, तब वे सृष्टि रचना में किंकर्तव्यविमूढ़ बने हुए थे। उस समय आपने उन्हें तप करने का आदेश दिया था। तप से ही उन्होंने विश्व की रचना की। तप से ही वे सृष्टि वृद्धि करने में सफल हुए। तप से ही उन्होंने समस्त सिद्धियों को प्राप्त किया था। उस अमोघ सिद्धि की कुञ्जी को पाकर कमलासन प्रभु परम प्रसन्न हुए और उन्होंने उसी का उपदेश हम सबको किया। तभी से हम सब तपस्या में ही निरत रहते थे। बीच में यह पुरुष

उत्पन्न हो गया। इसने समस्त जप, तप, नियम, साधन आदि नष्ट कर दिये। हम सब तपस्या से हीन होकर दुखी बन गये। आज इस अधम को मारकर आपने पुनः तपस्या की प्रतिष्ठा की। अब हम सब सुखपूर्वक पुनः पूर्ववत तप कर सकेंगे और तपस्या द्वारा आपकी आराधना कर सकेंगे। हे तपपति! आपके चरण कमलों में हमारा प्रणाम है।

इतने में ही पितर भी सम्मुख आये। पितरों को देखकर ऋषि गण एक ओर हट गये। सभी पितर दुर्बल थे। उनके साथ उनकी पत्नी स्वधा भी थी। स्खलित वाणी से वे बोले—"हे प्रभो! हमारे खेती तो होती नहीं। व्यापार भी नहीं करते, नौकरी चाकरी तथा और कोई भी धन्धा हम नहीं करते। पृथ्वी लोक में रहने वाले हमारे पुत्र पौत्र तथा अन्य पुरुष जो श्राद्ध में पिंड और तर्पण में उदक देते थे, उसी को खा पीकर हम अपना निर्वाह करते थे। इस चोर ने उन सब पिंडों को चुराकर अपने पेट में छुपा लिया था। आज आप न्यायाधीश ने उन सब चोरी की वस्तु को इसके पेट को फाड़कर बाहर निकाल ही नहीं दिया, चोर को भी सदा के लिये नष्ट कर दिया। अब हम शीघ्र ही स्वस्थ और पुष्ट हो जायँगे। अतः हे जीविका प्रदान करने वाले प्रभो! आपके पाद पद्मों में प्रणाम है।

पितर इतनी स्तुति करने से श्रमित से दिखाई देते थे अतः शीघ्रता के साथ सिद्ध कहने लगे—"हे नरहरि! हमें लोग सिद्ध कहते हैं। सिद्धियाँ हमें जन्म से स्वतः ही प्राप्त होती हैं किन्तु, इस असुर ने सब सिद्धियों को अशुद्ध बना दिया। हमारी समस्त शक्ति का अपहरण कर लिया। हम असिद्ध शक्ति हीन हो गये। इसी के पेट में सब सिद्धियाँ सन्निहित हो

गई थीं। आपने इसके पेट को फाड़कर सब सिद्धियों को बाहर निकाल दिया अतः आपके पादपद्मों में प्रणाम है। अब हम आपके दर्शनों से और असुर की मृत्यु से पुनः सिद्ध हो गये।

सिद्धों के पीछे विद्याधर खड़े थे उन्होंने जब देखा कि सभी को कुछ न कुछ कहना ही चाहिए। अपने दुःख को सुनाकर नृसिंह भगवान् की स्तुति करनी ही चाहिए। अतः वे बोले—"हे विभो! हम लोग विविध विद्याओं को अपनी धारणा से धारण करने के कारण विद्याधर कहलाते हैं। किन्तु इस असुर के सम्मुख हमारी एक भी विद्या नहीं चलती थी, इसने हमारी समस्त विद्याओं को व्यर्थ बना दिया था। हमें विद्या रहित कर दिया था। आज आपने इसके प्राणों को व्यर्थ बना दिया। इसका समस्त गर्व खर्व कर दिया। अतः हे विश्वेश्वर! हम आपके नयनाभिराम तीक्ष्ण नखों से युक्त पवित्र पादों में प्रणाम करते हैं।

विद्याधर और नाग ये उपदेव अत्यन्त ही स्वरूपवान् होते हैं। इनके पास बड़ी बड़ी बहुमूल्य मणियाँ होती हैं। हिरण्यकशिपु नाग लोक में जाकर नागों की स्त्री रत्नों को और मूल्यमान् मणियों को बलपूर्वक अपहरण कर लाया था। आज उस असुर को मृत देखकर वे सब सुन्दरी नाग कन्यायें भी अन्तःपुर से निकल आई थीं और नागों के साथ नागलोक जाने के लिये बड़ी समुत्सुक बनी हुई थीं। उन्हें देखकर नाग एक स्वर में ही बोल उठे—"हे प्रभो! जिस दुष्ट ने हमारी मणियों को हर लिया था, सो वो कुछ बात नहीं। स्त्री रत्नों को बलपूर्वक हमारे घर से ले आया था। आज वे सब आपका हार्दिक अभिनन्दन कर रही हैं। इन अबलाओं को सुख देने वाले हे सुखार्णव! हम श्रद्धा सहित प्रणाम करते हैं।

नागगण जब स्तुति कर चुके, तो फिर मनुगण आये। अब तक तो देवता स्तुति कर रहे थे, अब मनुष्यों के आकार में मनुओं को देखकर नृसिंह भगवान् ने आँखें लाल करके पूछा—"तुम लोग कौन हो ?

इतना सुनते ही मनुओं की तो सिटिल्ली भूल गई सब विनय स्तुति करना भूल गये। डरते हुए स्खलित वाणी में बोले—"देव! हम आपकी आज्ञा का पालन करने वाले मनु हैं।"

गरजकर नृसिंह भगवान् बोले—"क्या काम करते हो तुम लोग ?"

मनुओं ने कहा—"महाराज! हममें कार्य करने की सामर्थ्य कहाँ है, आपने जो मर्यादा बाँध दी है, उसी का आपकी आज्ञा से पालन करते हैं। इस दुष्ट ने आपकी मर्यादा का उल्लंघन किया था।"

डाँटकर भगवान् बोले—"अब तुम लोग क्या चाहते हो ?"

मनुओं ने कहा—"महाराज! हम आपकी आज्ञा चाहते हैं ? हम आपकी क्या सेवा करें ? हम तो प्रभो! आपके दास हैं। हमारे योग्य जो सेवा हो आज्ञा प्रदान कीजिये।"

इतना कहकर मनुगण पीछे खिसक गये। उनके पीछे प्रजापति गण हाथ जोड़े खड़े थे। नृसिंह भगवान् अब तो बोलने लगे। किन्तु बोलते हैं रोष के साथ। कहीं ऊपर चढ़ बैठे तो गोविन्दाय नमो नमः हो जायगा अतः अब कोई स्तुति तो करते नहीं। जो भी भगवान् पूछते हैं, उसका डरते-डरते उत्तर देते हैं।

भगवान् ने पूछा—"तुम लोग कौन हो जी ?

काँपते काँपते प्रजापतिगण बोले—"हे परमात्मन्! हम आपके ही बनाए हुए प्रजापति हैं ?

रोष के स्वर में भगवान् ने पूछा—"तुम किस काम पर नियुक्त हो ?"

प्रजापतियों ने कहा—"महाराज ! आपने ही हमें प्रजापति का काम सौंपा था ?"

भगवान् ने कहा—"कितनी प्रजा की वृद्धि की तुम लोगों ने ?"

प्रजापति बोले—"महाराज ! करें कहाँ से। इस दुष्ट ने तो हमारी क्रिया ही रोक ली थी। इसी से प्रजावृद्धि न कर सके। सौभाग्य की बात है, इस दुष्ट को आपने पछाड़ दिया। हम फिर प्रजावृद्धि करेंगे। सभी लोकों का कल्याण होगा सभी सुखी होंगे आपका यह सत्वप्रधान अवतार संसार के कल्याण के निमित्त हो।"

पीछे खड़े हुए गन्धर्व पैर में घुँघुरू बाँधे बार-बार छम्म-छम्म कर रहे थे। वे नाचना चाहते थे। किन्तु भगवान् की क्रोधमयी मूर्ति को देखकर उनका साहस नहीं होता था, कि कहीं नृत्य में दहाड़ मार दी तो रंग में भंग हो जायगी। सब सुख फीका पड़ जायगा। अतः वे हाथ जोड़ प्रजापतियों के पार्श्व में खड़े हो गये। उन्हें बने ठने देखकर भगवान् ने पूछा—"तुम कौन हो रे ? यह काँख में क्या दबाये हुए हो ?"

गन्धर्वों ने कहा—"हे भक्त भयहारी भगवान् ! हम आपके सम्मुख नाचने और गाने वाले गन्धर्व हैं ? ये हमारे पखावज, वीणा, मुरज आदि वाद्य हैं। आज्ञा हो तो हम कुछ संगीत सुनावें ?

भगवान् ने पूछा—"अब तक तुम क्या करते थे ?

गन्धर्वों ने कहा—"महाराज ! अब तक तो हमें इस पापी ने अपने बलवीर्य से बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया था।

अनिच्छा पूर्वक इसी का गुण गाते थे। इसी के सम्मुख नाचा करते थे। हमसे तनिक भी भूल हो जाती, तो यह लात ही मारता था, आज स्वयं ही टँगड़ी ऊपर किये पड़ा है। पेट के दो टुकड़े हो गये हैं। प्रभो ! आपका विधान ही ऐसा है जो जैसा करेगा वैसा भरेगा।"

पास में ही चारण खड़े थे भगवान् ने पूछा—"क्या तुम भी दैत्य के अनुचर हो ?"

यह सुनते ही चारणों का तो रक्त सूख गया। डर से थर-थर काँपने लगे। बोले—"नहीं प्रभो ! हमने तो आपके भवभयहारी पादपद्मों का ही आश्रय ग्रहण किया है। आपने इस दैत्य को मारकर बड़ा पुण्यकर्म किया नाथ ! सन्तजनों के हृदय में शूल की भाँति खटकने वाले इस दैत्य का आपने अन्त कर दिया। हम इसके अनुयायी नहीं थे। हम तो आपके दासानुदास हैं ?"

विकृत वेप वाले यक्षों को देखकर भगवान् बोले—"तुम कौन हो ! ऐसे गुम्म सुम्म मूर्खों की तरह खड़े हो ?"

यक्षों ने समझा सबका क्रोध हमारे ही ऊपर न उतारा जाय, अतः बोले—"महाराज ! हम तो आपके प्रधान दास हैं ?"

भगवान् बोले—"क्या प्रधानता है तुममें। तुम तो बड़े मैले कुचैले अँगरखा पहिने, हाथ में पालकी का डंडा लिए खड़े हो ?"

यक्षों ने काँपते-काँपते कहा—"नहीं भगवन् ! हम तो बड़े बड़े मनोहर कर्म करते हैं। इस दुष्ट ने हमें बलपूर्वक पालकी ढोने के काम में नियुक्त कर दिया था। क्या करते विवश होकर करते ही थे। नहीं तो हम पृथ्वी, तेज, वायु, आकाश, पंचभूत, दस इन्द्रियाँ पञ्चतन्मात्रायें तथा मन अहंकार, महत्तत्व, प्रकृति, इन २४ तत्वों के नियन्ता पच्चीसवें पुराण पुरुष आपही

हैं। आपने इस दुष्ट को मार डाला अब आप हमें जो सेवा सौंपेंगे उसी को करेंगे।

गन्धर्व कुछ कहना ही चाहते थे, कि भगवान् किंपुरुषों की ओर देखकर बोले—तुम कौन हो?

वे डरते-डरते बोले—"प्रभो! हम किंपुरुष हैं।

रोष में भगवान् बोले—"क्या करते हो तुम?"

अब क्या करें, शीघ्रता से बोले—"भगवन्! हम कविता करते हैं।"

भगवान् बोले—"कैसी कविता करते हो?

किंपुरुष डरे तुरन्त तुक भिड़ाकर बोल उठे—

हम किंपुरुष कुपुरुष यह, पापी पामर पापमति।
महापुरुष प्रभु आप हैं, दई दैत्य कूँ परमगति॥

वैतालिनों ने देखा, अब तो भगवान् कविता भी सुनने लगे हैं। कुछ पारितोषिक मिले तो सब किंपुरुष ही न ले जायँ अतः वे बोले—"भगवन्! बड़ी बड़ी सभाओं में धूम धाम से होने वाले यज्ञोत्सवों में हम सदा आपका यशगान करते थे। वहाँ हम बहुत सी दान दक्षिणा, भेंट पूजा, न्योछावर पारितोषिक पाते थे। यह सब इस दुष्ट ने नष्ट भ्रष्ट कर दिया। अब यह दुष्ट मर गया, तो अब फिर हमें अपना स्थान प्राप्त हो जायगा। फिर उसी प्रकार भेंट पूजा मिलने लगेगी।"

किन्नरों ने सोचा—"अब तो आजीविका का प्रश्न आ गया। यहाँ जो नियुक्ति हो गई वह स्थाई समझी जायगी। सिंहासन पर प्रभु विराजमान हैं। जिसके लिये जो आज्ञा हो जायगी वही उसे मिल जायगा। अतः वे दीनता के स्वर में बोले—"प्रभो! हमारी भी सुन ली जाय, हम आपके मुख्य अनुचर हैं। इस दुष्ट ने तो हमें विष्टि में—बिना पैसा दिये काम

कराने में नियुक्त कर रखा था, अब तक विवश होकर करते रहे। अब हम ऐसे ही न रह जायँ ? हमें आशा है इस दुष्ट के मारे जाने पर अब हमारी उन्नति हो जायगी।"

भगवान् के नन्द, सुनन्द, गरुड़ आदि पार्षद भी आये थे। सब लोग बार बार हिरण्यकशिपु को दुष्ट ! खल, नीच आदि कह रहे थे। यह बात उनके कहने के लिये असह्य थी। वे जानते थे ये हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु हमारे ही साथी जय विजय पार्षद थे। आज ये सनकादिकों के शाप से असुर योनि में आ गये थे। ये तो वैकुण्ठनाथ अत्यन्त मनोहर चतुर्भुज भगवान् के दर्शन करते थे। उसी रूप के आदी थे। आज इस विकराल मुख, लम्बी-लम्बी दाढ़ें, भयङ्कर आकृति को देखकर वे डर रहे थे। डरते-डरते वे बोले—"प्रभो ! इस विचित्र रूप का दर्शन तो आज हमने अपने जीवन में पहिले पहिल ही किया है यह तो हम जानते हैं आप हमारे स्वामी हैं, किन्तु आपने यह अद्भुत रूप बना लिया है। जिसे ये लोग बार बार दुष्ट दुष्ट कहते हैं, यह तो आपका आज्ञाकारी दौवारिक दास है, आपका प्रिय पार्षद है। विप्र शाप से इसने यह अधम योनि प्राप्त की है। इसे मारकर आपने इसका कल्याण ही किया। यह आपका क्रोध भी प्रसाद के तुल्य है। इस हमारे साथी के ऊपर आपकी अगाध अनुकम्पा है। प्रभो ! हमें भूल न जायँ।"

नारदजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार सभी ने मिलकर भाँति-भाँति से नृसिंह भगवान् को प्रसन्न करना चाहा, किन्तु उनकी मुद्रा में अणुमात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ। वे उसी प्रकार क्रोध में भरे लाल लाल आँखें किये बार बार क्रोध से ओठ काटते सिंहासन पर खड़े रहे। सबकी बात सुनते रहे,

किसी को मारा पीटा नहीं। इससे देवताओं का कुछ साहस बढ़ा। अब वे सोचने लगे, कि किसी प्रकार पैरों तक पहुँच जायँ, तो ज्ञात हो जाय यह क्रोध हम पर तो नहीं है। अतः वे आपस में समीप जाने के लिये काना फूँसी करने लगे।

छप्पय

अब तो क्रम तैं करहिं विनय नरहरि की सबई।
ब्रह्मा, शिव, देवेन्द्र, हटे आये सुर तबई॥
पुनि मुनि, ऋषि, मनु, पितर,सिद्ध, चारन, विद्याधर।
नाग, प्रजापति, यक्ष, भूत, वैतालहु किन्नर॥
आईं मृदुतनु अपसरा, देव और उपदेव गन।
हरि पार्षद नन्दादि हू, विनय करहिं भयभीत मन॥

# प्रह्लादजी पर नृसिंह भगवान् की अनुकम्पा

[ ४६० ]

स्वपादमूले पतितं तमर्भकम्,
विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः।
उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात् कराम्बुजम्,
कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम् ॥*
( श्री भा० ७ स्क० ६ अ० ५ श्लो० )

छप्पय

दूरहि तैं डंडौत करैं सुर पास न जावैं।
तू जा, तू जा, करैं दूरितैं सैन चलावैं॥
लक्ष्मी बोलीं अबहिं करूँ वश क्यौं घबरावत।
करि सोलह शृङ्गार चलीं नूपुर खनकावत॥
हरि चिंघारे श्री डरीं, भगीं लौटि आईं तहीं।
थर थर काँपैं पुनि कहैं, जे मेरे दुलहा नहीं॥
अपने इष्ट को भलीभाँति भक्त ही समझ सकता है।

---

* धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कहते हैं—"राजन्! जब भगवान् ने उन बालक प्रह्लाद जी को अपने पैरों के पास पड़ा हुआ देखा, तब कृपा से परिप्लुत होकर हरि ने उन्हें उठा लिया। फिर काल रूप व्याल से भयभीत पुरुष को निर्भयता प्रदान करने वाले अपने करकमल को उनके मस्तक पर रखा।"

जिससे जिसे अपने अनन्य प्रेमसे भक्तिभाव से प्रकट उसके यथार्थ रहस्य को नहीं जानता है पिता कितना भी कुपित हो फिर भी पिता ही है। सिंह सब पर क्रोध करता है, किन्तु अपने बच्चे को हृदय से चिपटाता है। सिंह से सभी डरते हैं। किन्तु सिंह का बच्चा उससे तनिक भी भयभीत नहीं होता। बिल्ला चूहों को मुँह में ले जाती है, उसी तरह उसी मुख में अपने बच्चों को भी उठाकर ले जाती है। चूहे उसके मुँह में पड़ते ही तड़फड़ाने लगते हैं, भयभीत होकर थर थर काँपने लगते हैं, किन्तु उसके बच्चों को कोई चिन्ता नहीं, कोई दुख नहीं, शोक नहीं, भय नहीं। कारण यही है कि बच्चों को विश्वास है यह हमारी माता है, इससे हमारा अनिष्ट कभी हो नहीं सकता। इसके विपरीत चूहे उसे अपनी घात करने वाली समझते हैं, उनकी दृढ़ धारणा है यह हमें मार डालेगी खाजायगी। भावना ही फलवती होती है, जनार्दन प्रभु भाव ग्राही हैं। जाकी जैसी भावना होती है ताको तैसी ही सिद्धि प्राप्त होती हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन् देवगण सिंहासनस्थ नर हरि प्रभु की दूर से खड़े खड़े स्तुति तो कर रहे थे, किन्तु भयके कारण कोई आगे नहीं बढ़ते थे। सब देवताओं ने ब्रह्माजी से कहा—"प्रभो! आप ही सबके अग्रणी हैं, पहिले आप ही भगवान् के पादपद्मों को स्पर्श करें।"

यह सुनकर ब्रह्माजी सबको डाँटते हुए बोले—"तुम लोग कैसा अन्याय कर रहे हो, ऐसे समय युवकों को आगे बढ़ना चाहिये।"

ब्रह्माजी की ऐसी बात सुनकर देवताओं ने शिवजी से

कहा—"भगवन्! हम सब तो साधारण देव हैं, आप देवाधिदेव महादेव ठहरे। अतः पहिले आप बढ़ें। आप हमारे आगे चलें।

शिवजी ने कहा—"देखो भैया! मुझे आगे चलने में तो कुछ आपत्ति है नहीं। तुम मेरा सब स्वभाव जानते हो, मेरा तो वैसे ही रूद्ररूप है। तमोगुण प्रधान होने से क्रोध करना मेरा काम ही है। ये भी इस समय क्रोध में भरे हैं। यदि मुझे भी क्रोध आगया तो मेरी तो कुछ हानि है नहीं। तुम लोगों के ही ऊपर बीतेगी।"

यह सुनते ही इन्द्र ने कहा—"नहीं, नहीं भगवन्! आपका जाना उचित नहीं। इन बनी ठनी नाचने वाली अप्सराओं को भेजो। बहुत मुँह मटकाती हैं, सैन चलाती हैं, सदा मदमाती बनी रहती हैं, अपने आगे किसी को कुछ समझती नहीं। आज इनके हाव भाव कटाक्षों की परीक्षा है।

यह सुनते ही सब अप्सरायें एक स्वर में चिल्ला उठीं देवेन्द्र! प्रभो! आप हमें कहाँ भेज रहे हैं, वैसे ही हमें आग में झोंक दीजिये। एक भी नख मार दिया तो हमारी तो दुर्दशा हो जायगी। हम हार मानती हैं, यहाँ हमारा सौन्दर्य माधुर्य किसी भी काम न आवेगा। हमारा क्या संसार में कोई भी सुन्दरी से सुन्दरी स्त्री इन भयंकर मूर्ति वाले कुपित प्रभु को प्रसन्न करने में समर्थ नहीं।"

समीपमें ही लक्ष्मी जी खड़ी थीं, उन्हें यह बात बहुत बुरी लगी। अप्सराओं को डाँट कर बोलीं—"अप्सराओ! यह तो तुम नारी जाति का अपमान कर रही हो। पुरुष कैसा भी क्रुद्ध क्यों न हो, जब स्त्री प्रेम भरी दृष्टि से स्नेह पूर्वक उसकी ओर देखती है, तो उसका समस्त क्रोध कपूर की भाँति उड़

जाता है। तुम जैसी वाराङ्गनाओं की बात तो दूसरी है, कौन सती साध्वी स्त्री अपने पति के क्रोध को शांत करने में समर्थ न होगी ?"

अप्सरायें यह सुनकर सन्न रह गईं। उन्हें अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ। इस बात से देवताओं को सहारा मिल गया। वे हाथ जोड़कर बोले—"माताजी! अब आपके ही द्वारा भय दूर हो सकता है। आप ही कुपित प्रभु को शांत करने में सर्वथा समर्थ हो सकती हैं। आप के अतिरिक्त हमारी कोई गति नहीं त्राणका उपाय नहीं।"

लक्ष्मीजी गर्व के साथ बोलीं—"अरे, तुम लोग डरते क्यों हो ? देखो, जहाँ मैं भगवान् के सम्मुख हुई कि भगवान् हँस पड़ेंगे। मेरी दृष्टि से जहाँ दृष्टि मिली, जहाँ चार आँखें हुईं, कि वे क्रोध करना भी चाहेंगे तो न कर सकेंगे।"

विनय के साथ देवताओं ने कहा—"तब माता जी। आप पधारें। वहीं अप्सराओं ने पर्दा लगा कर ओट करदी। लक्ष्मी जी के बालों में कंघी की गई। नेत्रों में अंजन, मुख में बीरी, इस प्रकार सोलहूँ शृङ्गार करके वस्त्राभूषणों से सजबज कर नूपुर, करधनी, कड़े छड़ों की झनकार करती हुई प्रेम भरे नेत्रों से तिरछी निहारती हुई हंसिनी की चाल से मन्द मन्द मुस्कराती हुई आगे बढ़ीं। ज्योंही कुछ बढ़ीं, कि नृसिंह भगवान् ने तनिक मुँह मटकाकर आँखें फाड़कर लक्ष्मीजी की ओर पंजे बढ़ाकर हुँ हुँ कर दिया, एक दहाड़ मारी। दहाड़ सुनते ही लक्ष्मीजी की तो सब सिटिल्ली भूल गई। आँखें मिच गईं सब सैन चलाना भूल गई, अंग थर थर कांपने लगा। वेणी में लगी फूलों की माला गिर गई। कहीं वस्त्र कहीं आभूषण। मुट्ठी बाँध कर जो भागीं कि उनकी छोटी छोटी कुटिल अलकावली बिखरकर उड़ने लगीं।

नीलाम्बर वायु में उड़ने लगा। सुवर्ण के समान उनके अंग प्रत्यंग दिखाई देने लगे। गले की मालायें अस्त-व्यस्त हो गईं। अप्सरायें भी डर गई थीं, उनके बीचमें जाकर कमला रानी थर थर काँपने लगीं।

अप्सराओं ने पूछा—"क्यों क्या हुआ माता जी!—क्या हुआ माताजी? माता जी को सुधि बुधि हो तब तो बतावें। वे डरी हुई थीं। वाणी रुद्ध हो गई थी। वे लड़खड़ाई वाणी में बोलीं—"बहिनाओ! मैंने तो उनका ऐसा भयंकर रूप आज से पहिले कभी देखा नहीं। मुझे तो इस बात पर भी सन्देह है कि हमारे वे ये हैं भी कि नहीं। हमारे प्राणनाथ तो ऐसे कभी नहीं गुर्राते थे। ऐसी दहाड़ तो मैंने कभी सुनी नहीं। मुँह में वस्त्र देकर मुँह फेरकर देवाङ्गनायें हँसने लगीं। बूढ़े ब्रह्मा जी को भी लक्ष्मी जी की दशा देखकर दया आ गई। वे सोचने लगे—"जिसकी गाँठ उसी से खुलती है। ये प्रभु प्रह्लाद के ऊपर कृपा करके प्रकट हुए हैं, अतः प्रह्लाद ही चाहे तो इन्हें प्रसन्न कर सकता है। अतः वे प्रह्लाद को पास बुलाकर बोले—"बेटा! प्रह्लाद, तुम प्रभु के पाद पद्मों के निकट जा सकते हो?"

प्रह्लाद जी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"हाँ महाराज! मुझे क्या डर, आपकी आज्ञा हो, तो मैं उनके पैरों को पकड़ सकता हूँ, गोदी में बैठ सकता हूँ। उनके मुख में उँगली दे सकता हूँ। दाढ़ी मूँछ पकड़ सकता हूँ। पिता से पुत्र को क्या भय, सिंह क्या अपने बच्चे को प्यार नहीं करता?"

देवताओं ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए एक स्वर से कहा—"हाँ, हाँ भैया, तुम जाओ, तुम्हीं भगवान् को प्रसन्न कर सकते हो।"

सबकी आज्ञा पाकर प्रह्लाद जी अत्यंत ही सरलभाव से कमर में वस्त्र लपेटकर भगवान् के समीप गये और सिंहासन पर विराजमान नृसिंह भगवान् के पादपद्मों में प्रणाम किया। प्रेमाश्रुओं से उनके पैरों को पखारा।"

प्रह्लाद को अपने पैरों में पड़े देखकर प्रेम से परिपूर्ण हृदय प्रभु ने उन्हें बलपूर्वक अपने करकमलों से उठाया और कसकर आलिंगन करते हुए उनके मस्तक को सूंघा तथा काल व्याल से भयभीत हुए पुरुषों को निर्भय बनाने वाले अपने करकमल को उनके मनोहर मस्तक के ऊपर रखा। गोदी में प्रेम पूर्वक बिठाकर प्यार किया। वात्सल्य प्रेम उमड़ आने से वे बार बार उनके मुख को चूम रहे थे। प्रह्लादजी उसी प्रकार आनन्द में निमग्न भोले भाले बने उनकी गोद में बैठे थे जैसे सरल शिशु अपने प्रेमी पिता की गोद में बैठा हो।"

भगवान के सुखद स्पर्श से उनका रोम रोम आनन्द से खिल गया था। उनके समस्त कृत कर्मों का नाश हो गया था, उन्हें भगवान् के वास्तविक स्वरूप का बोध हो गया, वे कृतार्थ हो गये। स्वरूप साक्षात्कार होने से उन्हें भूत भविष्य, वर्तमान सभी कालका ज्ञान हो गया। हृदय सागर में प्रेम का ज्वार भाटा सा आगया, स्नेह का एक उफान सा आ गया। नेत्रों से प्रेम के अश्रु विन्दु झरझर झरने लगे। वे भगवान की मनोहर मूर्ति के दर्शनों से तृप्त ही नहीं होते थे। विना पलक मारे निर्निमेष भाव से भगवान् की ही ओर निहार रहे थे।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! जब कुछ प्रेम का वेग कम हुआ और कुछ कुछ वाह्य ज्ञान होने लगा, तो प्रह्लाद जी

गद्गद कंठ से प्रेम में विभोर होकर भगवान् की स्तुति करने लगे।

छप्पय

कमलयोनि प्रह्लाद बुलाये बोले बानी।
बेटा विभु अति कुपित डरीं कमला पटरानी॥
तुम प्रभु के हो भक्त चरन ढिंग उनके जाओ।
करि विनती परि पैर कुपित नरहरिहिँ मनाओ॥
तब बोले प्रह्लाद विधि! नरहरि ढिँग हौं जाउँगो।
विनय करौं अति दीन ह्वै, सब विधि प्रभुहिँ मनाउँगो॥

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः
सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः।
नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ॥ *

(श्री भा० ७ स्क० ६ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

हैं जो जगके ईश प्रनतके मन प्रतिपालक।
हौलें हौलें गये जोरि कर, प्रभु ढिंग बालक ॥
परे दंडवत भूमि माँहि चरननि लिपटाये।
देखि दयावश दौरि देवने तुरत उठाये ॥
शिशु कपोल करतें गह्यो, पुनि पुनि मुख चुम्बन करयो।
सिर सूंघ्यो पुनि लाइ उर, अभयकरन कर सिर धरयो ॥

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी चार प्रकार की वाणी

---

* प्रह्लादजी भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"ब्रह्मादिक देवता, मुनि, तथा सिद्ध जिनकी मति एक मात्र सत्व में ही स्थित रहती है, जब ये लोग भी बहुत गुणों से तथा अपने वचनों के प्रवाह से आपको आज तक सन्तुष्ट नहीं कर सके, तब फिर उग्रजाति में उत्पन्न हुए हम असुरों से आप कैसे सन्तुष्ट हो सकेंगे।

बताई गई है। हम सर्वसाधारण लोग वैखरी वाणी में ही बातें करते हैं। ज्यों ज्यों वृत्ति अन्तर्मुख होती जाती है, ज्यों ज्यों भगवत् कृपा का निज इष्ट अनुग्रह अनुभव होता जाता है त्यों त्यों वाणी की गति सूक्ष्म और श्रेष्ठ होती जाती है। जब तक शरीर में अशुभ संस्कार रहते हैं, तब तक उसमें से वाणी भी अशुभ ही निकलती है। ज्यों ज्यों पाप नष्ट होते जाते हैं त्यों त्यों वाणी भी विशुद्ध बनती जाती है। भगवान् का जिन्होंने संस्पर्श कर लिया है, या कृपा कर भगवान् ने ही जिनके मस्तक पर कृपा से परिपूर्ण कालसर्प से भयभीत पुरुषों को अभय देनेवाला अपना वरद हस्त रख दिया है, उनके समस्त अशुभ उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं। फिर उनकी वाणी वेद वाक्य के समान शुभ और कल्याणकारिणी बन जाती है। उनके उच्चारण किये हुए स्तोत्र परम शक्तिशाली और प्रभु कृपा प्राप्ति के सुखद-साधन स्वरूप हो जाते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! जब श्री हरि ने अपने शरणागत भक्त प्रह्लाद जी पर कृपा की, उनके सिर पर अपना वरदहस्त रखा तब प्रह्लाद जी के समस्त अशुभ नष्ट हो गये। उनकी प्रज्ञा विशुद्ध बन गई। उसी विशुद्ध वाणी से उन्होंने विश्वेश्वर श्री नरहरि की स्तुति की।"

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"ऋषियो! प्रह्लादजी ने जो स्तुति की है, उसका एक एक शब्द अमूल्य है, स्तुति क्या है, सर्वशास्त्रों का सार है, ज्ञान रूपी समुद्र को मथकर वह स्तुति रूपी अमृत निकाला गया है। वह भक्ति रूप दुग्ध की मधुर मनहर मलाई है। उसमें प्रह्लाद जी की वाणी ही नहीं है हृदय की आह है, साधना की प्रणाली है।

सर्व प्रथम प्रह्लाद जी ने असुर होने से अपनी दीनता दर्शाई।

फिर भगवान् की भक्तवत्सलता, भक्तिप्रियता, भगवान् के यहाँ ऊँच नीच का भेद नहीं है इस सिद्धान्त को स्थिर करके अपना ही दृष्टान्त दिया। फिर देवताओं की ओर संकेत करके उन्हें दुखी देखकर प्रभु से क्रोध परित्याग करने की प्रार्थना की।

जब प्रह्लाद जी ने इस प्रकार बड़ी ऊँची ऊँची ज्ञान की निर्भय होकर बातें कीं तो भगवान् ने प्यार से पूछा—"बेटा! तुझे मेरे भयानक मुख, लपलपाती जिह्वा और बड़ी बड़ी दाढ़ों को देखकर भय नहीं होता?"

इस पर प्रह्लाद जी ने कहा—"प्रभो! माता पिता से भी भला कभी पुत्र को भय हो सकता है। मैं तो आपके मुख में अभी अपना हाथ दिये देता हूँ।" यह कह उन्होंने भगवान् की बड़ी बड़ी तीक्ष्ण दाढ़ों को कोमल पीपर के पत्ते के समान अपने छोटे छोटे अरुण हाथों की नन्हीं नन्हीं उँगलियों से पकड़ा। नृसिंह भगवान् यह देखकर हँस पड़े। देवताओं का भय दूर हुआ। चलो, भगवान् हँस तो पड़े। फिर प्रह्लादजी ने दास्य भाव की बड़ी प्रशंसा की भगवान् से प्रार्थना की मुझे दास्य भाव का उपदेश देकर अपना दास बना लें। आप ही मेरे माता पिता बन्धुबान्धव सर्वस्व हैं। फिर यह बताया कि यह संसार चक्र आपकी प्रेरणा से कैसे घूम रहा है। इसमें प्राणी आ आकर अपने आप कैसे पिस रहे हैं इस चक्र से वही बच सकता है, जिस पर आपकी कृपा हो। सो, हे नाथ, मुझ पर कृपा करो। मुझे इस चक्कर से बचाओ। प्रभो! मेरे ऊपर आपने जैसी कृपा की है, वैसी कृपा अपने पुत्र ब्रह्मा पर अपनी गृहिणी लक्ष्मी पर तथा अपने अंशभूत देवों पर भी नहीं

इस प्रकार प्रह्लाद जी ने भाँति भाँति से

स्तुति की, सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! मैं उस स्तुति का वर्णन आपसे इस कथा प्रसङ्ग में करने में सर्वथा असमर्थ हूँ। अवसर मिला तो उस दिव्य स्तोत्र का वर्णन पृथक् स्तोत्र प्रकरण में करूँगा।"

शौनकजी ने यह सुनकर कहा—"सूतजी ! प्रह्लादजी की तो हम एक से एक आश्चर्यप्रद बातें सुन रहे हैं। महाभाग उनके स्तोत्र को सुनकर भगवान् ने क्या कहा ? इस बात को हमें और बताइये।

इस पर सूतजी बोले—"महाभाग ! प्रह्लाद जी की स्तुति सुनकर भगवान् ने उन्हें हृदय से लगाया, प्यार किया और मुख चुम्बन करके बोले—"बेटा प्रह्लाद ! मैं तुम्हारी सरलता निष्कपटता, एक निष्ठा और अहैतुकी भक्ति से अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे जो भी चाहो, वही वर माँग लो। मुझे प्रसन्न करके तुम वर माँगने मे संकोच मत करना। संकोच तो उन्हीं को होता है, जिनके हृदय मे भगवद् भक्ति नहीं होती, जो अपने को ही कर्ता मानते हैं जो इन संसारी पदार्थों को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। हे आयुष्मन् ! जिन ने भक्ति के द्वारा मुझे प्रसन्न कर लिया है, उसे किस बात की कमी रह सकती है, वह कभी किसी वस्तु के आदान प्रदान में लोभ या संकोच न करेगा। वस्तुओं का अभाव जन्य क्लेश प्राणियों को तभी तक होता है, जब तक उन्हें मेरा दर्शन नहीं होता। जहाँ मेरा दर्शन हुआ कि फिर उन्हें यह कहने का अवसर नहीं रहता, कि मेरी अमुक कामना पूर्ण नहीं हुई। भगवद्भक्त साधुजन सब कुछ परित्याग करके मेरी प्रसन्नता के ही लिये सतत प्रयत्न क्यों करते रहते हैं। इसीलिये कि प्रसन्नता में ही सकल

सिद्धियाँ सन्निहित हैं। तुमने मुझे अपने भक्ति भाव से प्रसन्न कर लिया है, अतः तुम जो भी चाहो, मुझसे वरदान माँग लो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! बालक प्रह्लाद के लिये यह सबसे बड़ा प्रलोभन था। जिसने इन विषयों को तुच्छ न समझा हो, जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त न की हो, यदि उसके सम्मुख ऐसा प्रलोभन आता, समस्त भुवनों के एक मात्र स्वामी श्री हरि उससे वरदान माँगने को कहते, तो वह अवश्य ही फिसल पड़ता। प्रलोभन में आ जाता किन्तु प्रह्लाद जी ने तो सेवा संयम द्वारा अपनी समस्त इन्द्रियों को संयत कर रखा था, उनकी दृष्टि में तो ये सांसारिक पदार्थ अति तुच्छ और गर्हणीय थे। अतः इतना प्रलोभन देने पर भी उनके मन में अणुमात्र भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ। वे उसी प्रकार निष्काम बने रहे।

धर्मराज युधिष्ठिर को नारदजी सुना रहे हैं, "राजन्! इस प्रकार जब प्रभु ने प्रसन्न होकर बार बार प्रह्लाद जी से वर माँगने का आग्रह किया तो प्रह्लाद जी कुछ काल तो मौन रहे, फिर उन्होंने इस पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया, अन्त में जब उन्होंने निश्चय कर लिया कि सांसारिक भोगों के लिये वर-दानादि माँगना भक्तियोग के पथिक के लिये बड़ा भारी विघ्न है, तब वे मुस्कराते हुए भगवान् से कुछ कहने के लिये प्रस्तुत हुए।

छप्पय

बोले श्री प्रह्लाद कृतारथ भयो नाथ अब।
परसे पावन पाद पदुम दुख दूरि भये सब॥
किहि बिधि विनती करूँ आप हरि अन्तरजामी।
भटकें जगमहँ जीव उबारो तिनकूँ स्वामी॥
बिनती सुनि प्रह्लाद की, भये मुदित श्रीरमापति।
मधुर वचन बोले विहँसि, बार बार करि प्यार अति॥

# प्रह्लादजी का विचित्र वरदान

( ४६२ )

यदि रासीश मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥❀
( श्री भा० ७ स्क० १० अ० ७ श्लो० )

**छप्पय**

अति प्रसन्न हौं वत्स माँगु तूँ वर, मन चाह्यो ।
सकल मनोरथ सफल करन हित ही हौं आयो ॥
सुनि बोले प्रह्लाद न हरि ! वर तैं ललचावैं ।
विषयनि तैं करि दूरि अखिलपति अब अपनावैं ॥
नहि माँगहुँ वर विषय सुख, सदा नाथ ! हिय महँ बसहिं ।
करुनामय करुना करहु, कबहुँ कामना उठहिँ नहिँ ॥

जिन्होंने भगवत् कृपा का अनुभव कर लिया है, वे इन संसारी विषय भोगों में क्यों कर फँसने लगे। ये संसारी भोग तो परिणाम में दुखद हैं। सुख स्वरूप श्री हरि को प्रसन्न करके भी उनसे विषय सुखों की ही याचना की तो मानों कल्पवृक्ष के नीचे जाकर भी उससे एक मुट्ठी भुने चने और

---

❀ प्रह्लादजी भगवान् से कह रहे हैं "हे वरदानियों में श्रेष्ठ ! हे ईश ! यदि आप मुझे इच्छित वर देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरे मन में किसी प्रकार की कामनाओं का अंकुर ही उत्पन्न न हो यही मेरा वर है।"

एक टूटी झोपड़ी रहने को माँगी। चक्रवर्ती को प्रसन्न करके उससे तनिकसी चावलों की भूसी ही माँगी। मोक्षपति प्रभु के समीप जाकर भी बन्धन वाली वस्तुओं की इच्छा करना मूर्खता नहीं तो क्या है ?

श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! जब भगवान् बार बार प्रह्लाद जी से वर के लिये आग्रह करने लगे तो प्रह्लाद जी प्रेम के रोष के साथ बोले—"प्रभो! मेरे ऊपर कृपा करें, प्रमत्त को और अधिक सुरा पान न करावें, अंधे को पथ भ्रष्ट न करें, गिरे को और न गिरावें। घाव पर और शस्त्र न चलावें। भूखे को और व्यंजनों से न ललचावें। कामी को अधिकाधिक काम सामग्रियाँ प्रदान न करें। मैं तो स्वभाव से ही भोगासक्त हूँ फिर आप मुझे वर आदि का ऊपर से और भी लोभ दे रहे हैं।"

भगवान हँसकर बोले—"अरे भाई! नाशवान् और न्यून भोगों से दुख होता है, तुम यथेष्ट भोगों की पर्याप्त सामग्री माँग लो। सांसारिक भोग नहीं, स्वर्ग के दिव्य चिर स्थाई सुख माँगो। अक्षयलोकों को माँग लो।"

प्रह्लाद जी ने कहा—"प्रभो! भूलोक से लेकर ब्रह्मलोक तक का पार्थिव या दिव्य सभी सुख नाशवान् हैं, किसी का न्यून समय में किसी का अधिक समय में नाश अवश्य होगा, ये सभी अन्तवन्त हैं। ये सभी क्षयिष्णु हैं। पुनः पुनः जन्म मरण के चक्कर में डालने वाले हैं। अशाश्वत हैं। बन्धन के कारण हैं। मैं तो इन बन्धनों से छूटने के निमित्त आपकी शरण आया हूँ। भोगों के भोग से भयभीत होकर प्रसन्न हुआ हूँ।"

तो चाहते नहीं। अब तक तुझे तेरे पिता ने बड़े बड़े कष्ट दिये; अब तू सुख पूर्वक रहे इसीलिये तुझ से वर माँगने को कहा।"

शीघ्रता पूर्वक प्रह्लाद जी ने कहा—"नहीं, नहीं प्रभो! यह मेरा अभिप्राय नहीं है। आप मेरा अहित करने के लिये विषय सुख नहीं दे रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है, आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं। तभी तो संसार को और बढ़ाने वाले विषयों की ओर प्रेरित कर रहे हैं। आप यह देखना चाहते हैं, इसकी विषयों में कितनी आसक्ति है। सो, हे जगद्गुरो! मैं विषयों से डरा हूँ। इन विषयों के दुस्सह दुखों से ही डरकर तो आपका आश्रय ग्रहण किया है। आप मुझे विषयों में फँसाने के अभिप्राय से वर देना नहीं चाहते, ऐसा आप करने ही क्यों लगे। केवल परीक्षार्थ ले रहे हैं सो, प्रभो! मैं अपने पुरुषार्थ से परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सकूँगा। आप ही कृपा करो आप ही उत्तीर्ण करना चाहो, तो मैं हो सकता हूँ।"

तो है प्रेम का। निरपेक्ष और निष्काम भाव से की हुई सेवा ही सच्ची सेवा है। प्रभो! मैंने आपकी भक्ति विषय भोगों की इच्छा से नहीं की है। आपको भी इसके बदले विषयों का वर देकर मेरी भक्ति के महत्व को घटाना न चाहिए। मैं आपका निष्काम भक्त हूँ, आप मेरे सच्चे स्वामी हैं। अतः आप मुझे अपना लें। इन संसारी वरों के लोभ में न फँसावें।"

प्रह्लादजी की ऐसी युक्तियुक्त बात सुनकर भगवान् बोले—"देखो, भैया! यह आदान प्रदान तो प्रेम का लक्षण है। निर्धन पिता अपनी पुत्री को चाहे वह कितने भी धनिक परिवार में विवाही हो, वस्त्र आदि देते हैं। मित्र भी मित्र को देते हैं। देते समय उन वस्तुओं का महत्व नहीं। प्रेम निराकार वस्तु है, इन वस्तुओं के साथ वे प्रेम दान देते हैं। देना यह प्रेम की अभिव्यक्ति है। प्रेम प्रकट करने का साधन है। देने लेने से परस्पर में प्रेम बढ़ता है। अतः मुझ से तुम कुछ माँगलो उसे देने में मुझे प्रसन्नता होगी।"

यह सुनकर प्रह्लादजी बोले—"हे वरदानियों में श्रेष्ठ! यदि आपका आग्रह ही है। यदि आप मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो मैं एक ही वर आपसे मांगता हूँ, क्या आप देंगे?"

भगवान् ने स्नेह के साथ कहा—"बेटा! मेरे लिये कौन सी वस्तु अदेय है, तू जो भी माँगना चाहे निस्संकोच होकर माँगले।"

इस पर प्रह्लाद जी ने कहा—"प्रभो! आप देना ही चाहते हैं तो मुझे यही वर दें कि मेरे मन में किसी प्रकार की कामना ही न उठे। विषयों के उपभोग का अंतः करण में अंकुर ही उत्पन्न न हो।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और प्यार के साथ

बोले—"अरे भैया ! यह क्या वरदान ! कामनाओं से इतने क्यों डरते हो तुम ?"

प्रह्लाद जी ने कहा—"प्रभो ! हृत्या की जड़ तो ये कामनायें ही हैं। जिस समय मनुष्य के हृदय में किसी वस्तु की कामना उत्पन्न हो जाती है तो उसकी समस्त इन्द्रियाँ चञ्चल हो जाती हैं। मन विक्षिप्त सा होकर उसी का निरन्तर चिन्तन करता रहता है, बुद्धि की सद् असद् निर्णय करने की शक्ति कुंठित हो जाती है। प्राणों की गतिद्रुत हो जाती है, देह के रोम रोम में वही वासना भर जाती है। धर्म का विचार नहीं रहता। धैर्य नष्ट हो जाता है। लोक लाज को तिलाञ्जलि देकर भी अपनी कामना की पूर्ति के लिये सतत प्रयत्न करता है। उसकी श्री, समृद्धि, प्रभा, न्यून हो जाती है। तेज क्षीण हो जाता है। स्मृति में विभ्रम उत्पन्न हो जाता है और सत्य असत्य के विचार को छोड़कर जैसे हो तैसे कामना पूर्ति की धुनि सवार हो जाती है। अतः प्रभो ! कामना से बढ़कर आत्मा का पतन करने वाली दूसरी वस्तु संसार में नहीं है। जीवका यही जीवत्व है, कि उसके मन में विषयों के भोगने की कामना है। जिस समय जीव के मनकी कामनायें नष्ट हो जाती हैं, तो वह शिव स्वरूप हो जाता है। अतः हे अशरणशरण ! हे जगद्गुरु ! हे परब्रह्म ! हे परमात्मन् ! हे नृहरि विष्णो ! मुझे यही वर दीजिये कि कभी मेरे मन में विषयों की कामना उठे ही नहीं।

प्रह्लाद जी के ऐसे निष्कपट, छलछिद्र से रहित निष्काम वचन सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"बेटा ! प्रह्लाद ! तुम्हारे जैसे निष्काम अनन्य भक्त यद्यपि न, तो पृथिवी के भोगों की इच्छा रखते हैं न दिव्य स्वर्गीय भोगों की। तथापि जिनसे मुझे कुछ काम लेना होता है, उन्हें इच्छा न

रहने पर भी मैं कुछ काल के लिये ऐश्वर्य प्रदान करता हूँ। अतः इस पूरे मन्वन्तर पर्यन्त तुम असुरों के सम्राट् होकर नाना प्रकार के भोगों को भोगो। राज्य सिंहासन पर बैठो, विवाह करो, बच्चे पैदा करो।"

प्रह्लाद जी ने कहा—"अजी, महाराज! यह आपने क्या वर दे दिया। इन कच्चे बच्चों के चक्कर में मुझे मत डालो। भगवन्! मैं तो अपने ही लिये नहीं समस्त प्राणियों के लिये यही सर्वोत्तम समझता हूँ कि आत्म पतन के हेतुभूत यह जो घर गृहस्थी स्त्री बच्चों वाला गृहस्थाश्रम रूप अँधेरा कुआ है इससे निकल कर एकान्त वनमें चला जाय और वहाँ जाकर सर्वात्मभाव से आपकी ही उपासना करे। इन बाल बच्चों की किच्च पिच्च में मुझे न फँसाइये। फिर तो पत्नी के संकेत पर नाचना पड़ेगा। आज यह नहीं, यह ला वह ला। इसी में समय बीतेगा। आपको भूल जाऊँगा।"

भगवान् ने कहा—"नहीं भैया! भूलने का क्या काम है। भूलते तो वे हैं जो विषय सुख को ही सर्वोत्तम समझते हैं। अपने को ही कर्ता मानकर विषयों के जुटाने में ही लगे रहते हैं। तुम तो गृहस्थाश्रम को मेरी सेवा ही समझना यही सदा मन में रखना कि यह सब मैं भगवत् आज्ञा से, कर्त्तव्य बुद्धि से सब कुछ कर रहा हूँ। संसारी कार्यों को करते हुए एक बात मत भूलना। समस्त भूतों में समान भाव से विराजमान मुझ यज्ञेश्वर को सर्वदा अपने हृदय में धारण करके, सदा अव्यग्र भाव से मेरी सुमधुर कथाओं को अवश्य सुनते रहना। मुझे मन में रख कर मेरी कथाओं को जो बिना व्यवधान के नित्य सुनता रहता है, उसे यह संसार बाधा नहीं देता। अतः मेरी कथा सुनना मत भूलना। जिस दिन तुम कृष्ण कथा से वञ्चित रह जाओ।

उस दिन को व्यर्थ समझना। यदि तुम नित्य नियम से मेरी कथा सुना करोगे और सर्व कर्मों को मुझे ही अर्पण करते हुए भक्तियोग द्वारा मेरी आराधना करते रहोगे तो गृहस्थ में रहकर भी तुम्हें बन्धन न होगा।"

प्रह्लाद जी ने कहा—"प्रभो! आपकी आज्ञा तो सब प्रकार से शिरोधार्य है ही, किन्तु कर्म कैसे भी किये जायँ उसका शुभ अशुभ कुछ फल तो होगा ही। कर्म ही बन्धन के कारण हैं। मैं इस संसार बन्धन से मुक्त होना चाहता हूँ। आप उलटे कर्मों में फँसा रहे हैं!"

भगवान् ने कहा—"देखो भैया! मेरी प्रीति के निमित्त किये हुए कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। अभी पुण्य पाप युक्त तुम्हारा प्रारब्ध तो शेष है ही। बिना प्रारब्ध शेष रहे, यह शरीर टिक ही नहीं सकता। अतः जो पुण्य शेष है, उन्हें सुख भोग से क्षय करो। जो पाप शेष हैं, उन्हें बड़े बड़े यज्ञ-यागों द्वारा क्षय करो। यज्ञादि करने से पाप क्षय हो जाते हैं। जब तुम्हारे पाप और पुण्य दोनों ही क्षय हो जायँगे। तो अन्त में तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे। तुम्हारी अनन्य भक्ति की गाथायें तीनों लोकों में व्याप्त हो जायँगी। तुम तो मुक्त हो ही जाओगे जो हमारी तुम्हारी इस कथा को कहेंगे सुनेंगे तुम्हारे कथित स्तोत्रों का पाठ करेंगे वे भी कर्म बन्धन से मुक्त हो जायँगे। भैया! तुमने कुछ मुझसे वर नहीं मांगा। यदि तुम वर माँग लेते तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती।"

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! जब भगवान् ने बार बार प्रह्लाद जी से वरदान माँगने को कहा, तब प्रह्लाद जी सोच में पड़ गये और फिर कुछ सोच साचकर भगवान् से वर माँगने को उद्यत हुए।"

### छप्पय

हँसि बोले भगवान् विषय चाहैं नहिँ हरिजन।
करहिं निरन्तर भक्ति सदा राखैं मो में मन॥
मन्वन्तर तक तऊ भोग सब भोगो जग महँ।
कथा निरन्तर सुनै चित्त बाँधौ मम पग महँ॥
सुख तें पुण्यनि नाश करि, दुख हू मख करिकें नसौ।
पुण्य पाप तैं मुक्त ह्वै, मम समीप महँ फिरि बसौ॥

# द्वेषी पिताके प्रति भी प्रेम प्रदर्शन

( ४६३ )

वरं वरय एतत् ते वरदेशान्महेश्वर,
यदनिन्दत्पिता मे त्वामविद्वांस्तेज ऐश्वरम् ।
तस्मात्पिता मे पूयेत दुरन्ताद् दुस्तरादघात्,
पूतस्तेऽपाङ्गसंदृष्टस्तदा कृपणवत्सल ॥*

( श्री भा० ७ स्क० १० अ० १५, १७ श्लो० )

छप्पय

वार वार वर हेतु कही तब वर जिह माँग्यो।
मेरो शुभ आचरन पिता कूँ खोटो लाग्यो ॥
हरि निन्दा नित करी दास कूँ दुख बहु दीन्हों।
पग पग पै अपमान नाथ को मम पितु कीन्हों ॥
अति दुरन्त दुस्तर दुसह, दोष दैत्यपति ने करे।
छमे नाथ ! जद्यपि सबहि, दृष्टिमात्र तें अघ हरे ॥
हृदय हीन कृतघ्नों का नाश तो छोड़ दीजिये, साधारण-

---

* प्रह्लादजी नृसिंह भगवान् से कह रहे हैं—"हे महेश्वर ! आप वर देने वालों के ईश हैं, अतः आपसे मैं वर माँगता हूँ। आपके ईश्वर सम्बन्धी तेज को बिना जाने जो मेरे पिता ने आपकी निन्दा की है इस दुरन्त और दुस्तर पाप से मेरे पिता पवित्र हो जायँ। वैसे तो हे कृपणवत्सल ! आपके दृष्टिपात से ही वे पवित्र हो गये हैं।

तया अपने से स्नेह करने वाले से स्नेह तो सभी करते हैं। चोर, डाकू तथा हत्यारे पुरुषों के भी प्रेमी होते हैं, किन्तु वैष्णव तो अपने से द्वेष करने वालों से भी प्रेम करते हैं। उन्हें जो दुःख देता है, तो अपने शरीर में दिये दुख की उन्हें उतनी चिन्ता नहीं होती, जितनी दुख देने वाले की होती है। वे सोचते हैं—"यह भूला भाई भ्रमवश दुख दे रहा है। इससे इसे व्यर्थ ही नरक की यातनायें भोगनी पड़ेंगी, अतः वे भगवान् से दीन होकर प्रार्थना करते हैं—"प्रभो ! इसका भला कर इसकी दुर्गति न होने पावे।" भगवत् भक्तों के, महात्माओं के ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं। किसी कृपक ने अन्न की बाल तोड़ने पर किन्हीं सन्त को बहुत पीटा। सन्त राजा के गुरु थे। राजा को जब यह बात विदित हुई, तो उस कृपक को पकड़ बुलाया और महात्मा से पूछा—"इस दुष्ट को क्या दण्ड दिया जाय ?"

महात्मा ने कहा—"जिस खेत से हमने भूख के कारण बाल तोड़ी थी, उस खेत के कर से यह सदा के लिये मुक्त कर दिया जाय।" राजा ने ऐसा ही किया। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है, कि सन्तों का सत्संग कैसे भी, किसी भी भावना से क्यों न हो जाय, कल्याणकारी ही है। सन्तों का सम्बन्ध सभी दशाओं में सदा सर्वदा सुखप्रद ही होता है।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन् ! जब भगवान् प्रह्लादजी से बार बार वर याचना के लिये आग्रह करने लगे, तब कुछ सोचकर प्रह्लादजी बोले—"अच्छा, महाराज। मैं एक वर माँगता हूँ, आप देंगे न ?"

भगवान् ने कहा—"तू कैसी बातें कर रहा है, मेरे यहाँ

भक्तों के लिये अदेय तो कोई वस्तु ही नहीं। तू जो चाहे सो माँग ले ?"

तब प्रह्लादजी ने कहा—"अच्छी बात है, जब आपका वर देने का अनुग्रह ही है और आप मुझे इच्छित वर देना ही चाहते हैं तो मेरा यही वर है, कि मेरे ये पिता पवित्र हो जायँ ?"

भगवान् ने हँसकर कहा—"तुम्हारे पिता को क्या हो गया है ?"

प्रह्लादजी ने कहा—"महाराज ! हो तो कुछ नहीं गया है, किन्तु इन्होंने तो बड़े बड़े पाप किये हैं। सदा सर्वदा आपसे द्वेष रखा है। कहने न कहने योग्य बातें इन्होंने आपसे कही हैं। आपके ईश्वरीय तेज को न जानने के कारण विष्णु मेरे भाई को मारने वाले हैं, अतः मेरे शत्रु हैं ऐसी मिथ्या दृष्टि सदा रखते थे। आपको अपना प्रतिपक्षी शत्रु समझ कर आपसे भी द्रोह करते थे और आपके भक्त मुझसे भी द्रोह करते थे। आप अपने द्रोही को तो क्षमा कर भी देते हैं किन्तु अपने भक्त के द्रोही को कभी क्षमा नहीं करते। इस दोष को आप अत्यन्त ही दुरन्त और दुस्तर समझते हैं। हे दीन बन्धो ! हे भक्त वत्सल ! मेरी आपके पाद पद्मों में यही विनय है, कि आप इन्हें इस दोष से निर्मुक्त कर दें। इन्हें अब पापी होकर नरक की अग्नियों में न पचना पड़े। वैसे तो मरते समय जिसे आपके दर्शन हो जायँ, जिसके ऊपर आपकी दृष्टि पड़ जाय, उसके पाप रह ही नहीं सकते। फिर भी मैं दीनता वश आप से प्रार्थना कर रहा हूँ, कि आप इन पर कृपा करें। इन्हें आप पावन बना दें।"

प्रह्लादजी के ऐसे सुन्दर वचन सुनकर भगवान्

प्रसन्न हुई और हँसते हुए बोले—"अरे बेटा! तू बड़ा भोला भाला है। मेरे प्यारे बच्चे! जिसके यहाँ तेरा जैसा भगवद् भक्त पुत्र उत्पन्न हुआ है, वह पापी रह ही कैसे सकता है? हे निष्पाप! पिता की तो बात ही क्या तेरे समान पुत्र जिस कुल में उत्पन्न हो गया वह ७ पहिली पीढ़ी, ७ आने वाली पीढ़ी और ७ मातृ पक्ष की पीढ़ी, इस प्रकार इक्कीस पीढ़ियों को अपनी भक्ति के प्रभाव से ही तार सकता है। इसलिये तुम्हारा पिता ही पावन नहीं हो गया तुम्हारी २१ पीढ़ियों के पुरुष पावन हो गये। इसके पीछे तो मैं भी तर गया। तुम्हारा पिता हिरण्यकशिपु है, उसके पिता कश्यप हैं, कश्यप जी के पिता मीरीचि हैं और मीरीचि के पिता लोकपितामह ब्रह्मा हैं और ब्रह्मा का पिता मैं हूँ। अतः मैं इसे क्या पावन करूँगा? इसके सम्बन्ध से मैं स्वयं पावन हो गया। मेरे भक्तों का ऐसा महात्म्य है कि वे जहाँ उत्पन्न होते हैं वह स्थान परमपावन तीर्थ बन जाता है।

प्रह्लादजी ने कहा—"प्रभो! आपके भक्त तो पुण्य क्षेत्रों में रहते ही हैं, पवित्र कुल में ही उनका जन्म होता है, वे स्वयं भी पवित्र होते हैं, फिर उनके लिये पवित्रता क्या होगी?"

भगवान् ने कहा—"सो बात नहीं। मेरा भक्त पावन क्षेत्रों में न रहे अंग बंग, कलिंग आदि कीकट देशों में ही चाहे उत्पन्न हुआ हो नीच कुल में ही उसका जन्म हुआ हो। भक्त जिस देश में जन्म लेता है, वह देश पवित्र हो जाता है, जिस कुल में वह प्रकट होता है वह कुल पूजनीय बन जाता है। मेरे भक्त समदर्शी होते हैं, वे मुझसे तुम्हारी भाँति किसी वस्तु की कामना नहीं करते। वे मन से भी किसी प्राणी का अनिष्ट नहीं चाहते, न किसी को किसी प्रकार की पीड़ा ही देते हैं।

प्रह्लादजी ने कहा—"प्रभो ! मेरा जन्म अधम असुर योनि में हुआ है। मेरे पिता सदा आपसे द्वेष करते थे। मेरी आपके चरणों में दृढ़ अनुरक्ति नहीं, अतः हे शरणागतवत्सल ! हे दीन बन्धो ! मुझे ऐसा आशीर्वाद दें, मेरे ऊपर ऐसी कृपा करें, कि मैं भी आपके भक्तों का एक तुच्छ सेवक समझा जाऊँ। दास होने का तो मेरा अधिकार भी नहीं, सौभाग्य भी नहीं आपके दासों का अनुदास हो सकूँ।"

यह सुनकर नृसिंह भगवान् हँस पड़े और बोले—"अरे, भैया ! तू भक्तानुचर बनने को कहता है, मैं तो कहता हूँ, संसार में तुझसे बढ़कर मेरा कोई अन्य भक्त ही नहीं। तू मेरे सम्पूर्ण भक्तों में आदर्श स्वरूप है। तुम्हारे भक्त होने में तो कोई सन्देह वाली बात ही नहीं। जो लोग संसार में तुम्हारा अनुकरण करेंगे, वे भी त्रैलोक्य में परम वन्दनीय मेरे भक्त बन जायँगे। तुम अब अपने पिता के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह मत करो। इसकी अधोगति न होगी। मेरे अङ्ग स्पर्श से यह पावनों से भी पावन बन गया, तथापि लोक मर्यादा की रक्षा के निमित्त तुम इसके और्ध्व दैहिक कर्मों को करो।"

प्रह्लादजी ने कहा—"प्रभो ! मैं आपकी आज्ञा से पिता की पारलौकिक क्रियायें तो सब करूँगा ही, किन्तु इस दैत्य के सिंहासन पर किसी अन्य को बिठा दें। मेरे तीन और भी बड़े भाई हैं, उनमें से जिसे आप उचित समझें उसे ही राजा बना दें। मैं तो अब सर्वात्मभाव से आपकी सेवा ही करना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"देखो, भैया ! असुरों के सिंहासन पर बैठने के तुम ही सर्वथा उपयुक्त हो। मैं तुम्हें ही आज्ञा दे

अपनी आसक्ति से नहीं। मेरी आज्ञा मानकर तुम अपने पिता के पद पर स्थित हो ओ। तुम जो भी काम करो, वेदवादी मुनियों से पूँछ कर करना। वेदज्ञ ब्राह्मणों की आज्ञा का कभी भूलकर भी उल्लंघन मत करना। इस प्रकार तुम करोगे, तो यह राजपाट तुम्हें बन्धन कारक न होगा।"

प्रह्लादजी ने कहा—"प्रभो! इस राजपाट के झंझट में पड़ कर आपका भजन तो नहीं हो सकेगा।"

भगवान् ने प्रेम के साथ कहा—"अरे, भैया। भजन और क्या है, मेरी आज्ञा का पालन करना ही भजन है। तुम इन सब कार्यों को कर्तव्य बुद्धि से करना। चित्त को सदा मुझ में ही लगाये रखना, मेरी परिचर्या में सदा निरत रहना। ऐसा करने से तुम्हें राजपाट, गृहस्थाश्रम से कुछ भी क्लेश न होगा।

प्रह्लादजी ने कहा—"अच्छी बात है भगवन्! आपकी आज्ञा ही वेद वाक्य है। ऐसी कृपा करें, कि मुझे कभी राजमद, धनमद आदि न होने पावें, मेरे मन में कभी अज्ञान वश अहंकार मद आदि दोष आ भी जायँ, तो उन्हें शीघ्र ही हर लें। उनकी जड़ मेरे हृदय में जमने न दें।"

भगवान् ने कहा—"देखो, भैया प्रह्लाद! मेरे भक्तों को पहिले तो मद-मत्सर होते ही नहीं। कदाचित् किसी कारणवश उन्हें कभी अहंकार हो भी जाता है, तो मैं उसे अति शीघ्र जड़ से उखाड़ कर फेंक देता हूँ। मेरा सुदर्शन चक्र सदा तुम्हारी रक्षा करता रहेगा।" तुम्हें सभी विपत्तियों से छुड़ाता रहेगा।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन्? भगवान् की आज्ञा पाकर प्रह्लादजी ने शास्त्रीय विधि से अपने पिता की समस्त और्ध्व दैहिक क्रियायें की।"

छप्पय

नरहरि बोले वत्स ! तेरे कुल पितु महतारी।
पीढ़ी पावन भईं पुत्र ! इक्कीस तुम्हारी ॥
तुम सम जाके तनय नरक कैसे वह जावे।
पुत्र पुण्य परभाव, परम पद पितु तब पावै ॥
मृतक करम पितु के करो, अब बेटा ! तुम जाइकैं।
नित मम परिचरिया करो, मो मैं चित्त लगाइ कैं ॥
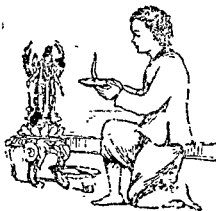
# प्रह्लादजी का राज्याभिषेक और भगवान् का तिरोभाव

( ४६४ )

इत्युक्त्वा भगवान्राजंस्तत्रैवान्तर्दधे हरिः ।
अदृश्यः सर्वभूतानां पूजितः परमेष्ठिना ॥
ततः काव्यादिभिः सार्धं मुनिभिः कमलासनः ।
दैत्यानां दानवानां च प्रह्लादमकरोत् पतिम् ॥*

( श्री भा० ७ स्क० १० अ० ३१ ३२ श्लो०

छप्पय

हरि आयसु सिरधारि असुर के करे कर्म सब ।
राज्यासन अभिषिक्त मुनिनि प्रह्लाद करे तब ॥
कीन्हीं विधिबहु विनय विश्वपति भल अति कीन्हों ।
असुर मारि प्रह्लाद तथा देवनि सुख दीन्हों ॥
हँसि विधि तैं नरहरि कहैं, बीज तुम्हारे ई बये ।
तुमने बाबा विधाता, दुरभ वर जाकूँ दये ॥

भगवान तो नित्य हैं, न कभी उनका जन्म होता है न वे

धर्मराज युधिष्ठिरसे नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! भगवान् नृसिंह ब्रह्माजी से ऐसा कहकर और उनके द्वारा पूजित होकर वहीं अन्तर्धान हो गये। अन्तर्धान क्या हो गये सभी प्राणियों में अदृश्य हो गये। तब ब्रह्माजीने शुक्राचार्य आदि मुनियों के सहित प्रह्लादजी को दैत्यों का स्वामी बना दिया।

शरीर त्यागते हैं। जितने कच्छ, मत्स्य, वाराह, नृसिंह-सूकर आदि अवतार हैं, नित्य हैं, शाश्वत हैं, पृथक् पृथक् द्वीप और वर्षों में इनकी सत्ता सदा रहती है और वहाँ के निवासी पुरुष उनकी शास्त्रीय विधि से पूजा करते हैं। हिरण्यकशिपु के पहिले नृसिंह भगवान् नहीं थे या उनकी पूजा अर्चा नहीं होती थी, सो बात भी नहीं। नृसिंह तो तब भी वैसे ही थे, अब भी वैसे ही हैं और प्रह्लाद के लिये हिरण्यकशिपु की सभा में जो प्रकट हुए तब भी वैसे ही प्रकट हुए। फिर भी लौकिक व्यवहार की दृष्टि से भगवान् के ऐसे नैमित्तिक अवतार जिस उद्देश के लिये होते हैं, उस निमित्त को पूरा करके तत्क्षण तिरोहित हो जाते हैं। केवल भक्त रक्षार्थ ही नृहरि भगवान् अवतरित हुए थे। भक्त की रक्षा करने के अनन्तर उनका इस अवतार का इस समय कार्य समाप्त हुआ। वास्तव में तो न भगवान् का कोई कार्य है, न उनकी समाप्ति। ये सब उपचार से लीला में आरोप किये जाते हैं।

धर्मराज युधिष्ठर से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! जब प्रह्लाद जी ने भगवान् की आज्ञा से अपने पिता की और्ध्व दैहिक क्रिया कर दी, तब भगवान् की ही आज्ञा से प्रह्लाद जी का विधिवत् राज्याभिषेक किया गया। हिरण्यकशिपु की क्रिया के पूर्व राज्य सिंहासन रिक्त न रहे इसलिये पहिले सामान्य रीति से राज्य तिलक देकर उन्हें सिंहासन का अधिकारी घोषित किया गया। जब उसका अग्नि संस्कार कर दिया, तब शुक्राचार्य जी को बुलाया गया। ये ही दैत्य दानवों के कुल पुरोहित हैं, अन्य ऋषि मुनि भी बुलाये गये। सब ने भगवान् के सम्मुख ही विधि विधान पूर्वक प्रह्लाद जी को राजा बनाया उनके ऊपर शुभ्र छत्र ताना गया, इधर उधर

ढुलने लगे। राज्य सिंहासन पर बैठे हुए प्रह्लाद जी अत्यंत सुशोभित हुए। भगवान् ने उन्हें शिक्षा देते हुए कहा—देखो, निरंतर मेरी भक्ति करते हुए निष्काम भाव से कर्तव्य बुद्धि से सब कार्यों को करना।

ब्रह्माजी ने देखा अब तो भगवान् हँस हँस कर बातें कर रहे हैं। असुर की क्रिया कर्म होने के साथ प्रभु का क्रोध भी समाप्त हो गया है; प्रसन्नता से उनका श्रीमुख अत्यंत सौम्य हो गया है। रोष का चिन्ह भी नहीं, तब तो ब्रह्माजी का साहस हुआ, वे श्रीहरि के अत्यंत ही सन्निकट आकर स्तुति करने लगे।

ब्रह्माजी बोले—"हे देवाधिदेव! यह तो बड़े ही आनंदकी बात हुई कि आपने इस अधम असुर को यम सदन पठा दिया, इसके अभिमान को मिट्टी में मिला दिया, इसे अपने पापों का फल चखा दिया। इस दुष्ट ने समस्त लोकों को संतप्त कर रखा था।

भगवान् हँस पड़े और बोले—"बाबा! यह इतना बलवान् बन कैसे गया?"

ब्रह्माजी बोले—"अजी महाराज! क्या बताऊँ। इसने बड़ी भारी तपस्या की थी, इसकी तपस्या से प्रसन्न होकर मुझे ऐसे ऐसे दुर्लभ वर इसे देने पड़े, कि यह मदोन्मत्त हो गया था। इसने मुझसे वर माँग लिया था कि मैं आपके रचे हुए किसी भी प्राणी से न मरूँ। इसी कारण अपने तप, कर्मों के कौशल और शारीरिक बलके प्रभाव से सभी देवताओं को जीत लिया। सभी लोक पालों को सेवक बना लिया, सम्पूर्ण वेदकी विधियों का उच्छेदन कर दिया और अपने पुत्र को भी अत्यंत दुःख दिये।

भगवान् ने हँसकर कहा—"ऐसे ही समय तो ब्रह्माजी! मैं धर्म संकट में पड़ जाता हूँ। आप बिना सोचे समझे ऊट पटांग वर दे देते हैं, फिर ये क्रूरकर्मा असुर, प्रजा को पीड़ा देने लगते हैं। और बातों को तो मैं सहभी सकता हूँ, भक्तों के साथ किये हुए अन्याय को सहन करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं, इसीलिए मुझे यह खिचड़ी की भाँति मिला जुला नृसिंह वेष बनाना पड़ा।"

ब्रह्माजी ने कहा—"प्रभो! आप ही तो सब के ईश हैं, यह बड़े आनंद की बात है, कि आपने मेरे वरों की रक्षा करते हुए इस दैत्य को मारा और अपने परम भक्त प्रह्लाद जी को दुःख से छुड़ाया। यह प्रह्लाद भी सर्वभाव से आपकी शरण में आ गया। अब प्रभो! इस पर आप कृपा करें, इसे अभय प्रदान करें। आप के दर्शन ही समस्त अमङ्गल और भयों को निवारण करने वाले हैं। आपने अपने अनन्य आश्रित भक्त को भी बचाया और मेरे भी वरों की मर्यादा रख कर मुझे झूठा नहीं बनाया।"

भगवान् हँसकर बोले—"अजी, ब्रह्माजी! आप के वरों ने ही तो सब गुड़ गोबर कर दिया। उन्होंने ही तो इस असुर को इतना उन्मत्त और उच्छृङ्खल बना दिया। अब आगे के लिये स्मरण रखें। कभी भूलकर भी किसी को ऐसे असंभव वर न दिया करें। अजी कोई भला आदमी हो, ज्ञानी ध्यानी भक्त तपस्वी, सदाचारी हो उसे वर देना तो शोभा भी देता है ऐसे दुष्टों को ऐसे कठिन वर देना मानों अपने आप अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारना है। घर में सांपों को दूध पिला कर पालना है।

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छी बात है, भगवान्! अब जो

भई सो भई। आगे से मैं ध्यान रखूँगा। इतना कहकर
जा ने भगवान् की विधि पूर्वक पूजा की।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कहते हैं, राजन्! ब्रह्माजी
की पूजा करके नृहरि भगवान् सब के देखते देखते वहीं तत्
क्षण अन्तर्धान हो गये। अब किसी को भी उनकी मन मोहिनी
मूर्ति दिखाई न दी। भगवान् के अन्तर्धान हो जाने के
अनंतर राज्य पाय हुए प्रह्लाद जी ने समागत सभी देवताओं की
यथा योग्य पूजा की। सब का आदर किया और सब से कृपा
दृष्टि रखने की प्रार्थना की।

देवताओं ने, मुनियों ने तथा समागत अन्य साधु सन्तों ने
प्रह्लाद जी को आशिर्वाद दिया, उनकी मंगल कामना की, तथा
उनसे सत्कृत होकर वे सबके सब अपने अपने धामों को चले
गये।

श्री नारद जी कहते हैं—"राजन्! आपने मुझसे हिरण्य-
कशिपु का वृतान्त पूछा था। वह मैंने तुम से कह दिया। हिरण्य-
कशिपु तथा हिरण्याक्ष पहिले भगवान् के जय और विजय नामक
पार्षद थे। सनकादि महर्षियों के शाप से भगवान् कश्यप के
वीर्य से अदिति के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। ये भगवान् को अपना
बैरी समझकर निरन्तर उन्हीं का चिन्तन करते रहते थे। तीन
जन्म में इन्हें शाप से मुक्त होने का वर था। अतः ये ही मरकर
दोनों रावण कुंभकरण हुए, जिन्हें भगवान् ने श्री रामावतार
रखकर मारा। तदनन्तर ये दोनों शिशुपाल और दन्तवक्त्र
हुए जिन्हें श्री कृष्णावतार रखकर भगवान् ने मारा है।

राजन्! यह जो अभी शिशुपाल मारा गया, जिसकी
सायुज्य मुक्ति को देख कर आपने आश्चर्य किया है, यह और
कोई नहीं है, भगवान् का पार्षद है। तीसरे जन्म में अब इसकी

मुक्ति हो गई। यह मैंने भगवान् ब्रह्मण्य देव परमात्मा श्री कृष्ण की परम पवित्र नृसिंह अवतार की कथा कही, जिसमें आदि दैत्य हिरण्यकशिपु के वध का प्रसंग भी है। हिरण्याक्ष वध की कथा वाराहावतार के प्रसंग में तुम से कह ही दी।"

हिरण्याक्ष के वध की कथा सुनकर शौनक जी ने कहा— "सूतजी! आपने यह तो भगवान् की बड़ी ही अद्भुत कथा सुनाई। शिशुपाल के तीनों जन्मों का परिचय कराया, किन्तु एक सन्देह हमें बना ही रहा। उसका समाधान आप और करें।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! कहिये मैं यथामति इसका उत्तर दूंगा।

शौनकजी ने कहा—"महाभाग ! प्रह्लादजी का जितना ही चरित्र मैंने सुना है, उतना ही मुझे आश्चर्य हुआ है। बाल्य-काल से ही भगवद् गुणों में अनुरक्ति, आसुरी भावों से विरक्ति, पठन पाठन में ही प्रभु पाद पद्मों में आसक्ति, यह साधारण पुण्य का काम नहीं। पिता ने उन्हें कितने २ कष्ट दिये, उनसे बच जाना तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि जिसके रक्षक भगवान् हैं उसे कोई भी मारने में समर्थ नहीं, किन्तु मुझे आश्चर्य इस बात का हो रहा है, कि पिता ने उन्हें इतनी इतनी घोर यातनायें दीं, इतने क्लेश पहुँचाये, फिर भी प्रह्लाद जी के मन में किसी प्रकार का भी द्वेष भाव पिता के प्रति उत्पन्न नहीं हुआ। उनकी वैसी ही श्रद्धा बनी रही। यही नहीं, मरने पर भगवान् से उन्होंने अपने पिता की सद्गति के ही लिये प्रार्थना की। महाभाग ऐसा तो न कभी देखा गया न सुना गया। इतना धैर्य ऐसी सहनशीलता किस कारण प्रह्लादजी में आ गई ?

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यह एक जन्म के पुण्य का फल नहीं है। इतनी सहनशीलता ऐसे महान् गुण अनेक जन्मों की कठिन साधना से आते हैं।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूत जी ! आपने शिशुपाल के पूर्व जन्म की कथा तो सुनी ही है, अब यह बताइये, प्रह्लादजी पूर्व जन्म में कौन थे, कैसे उनमें इतनी सहन शक्ति आई ? कैसे वे द्वेषी पिता के भी इतने भक्त हो सके। इसे सुनने के लिये हमारे मन में बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

इस पर सूत जी बोले—अच्छी बात है मुनियो ! अब मैं प्रह्लाद जी के पूर्व जन्म का वृत्त सुनाता हूँ आप इसे ध्यान पूर्वक सुने।

छप्पय

अब कबहूँ नहिं देंइ दुष्ट दैत्यनि कूँ अस वर।
करें सुधा को पान सदा विष उगलें विषधर॥
यों सब कूँ समुझाइ भये अन्तर्हित नरहरि।
विदा करे प्रह्लाद देव ऋषि अति आदर करि॥
हिरनकशिपु उद्धार अरु, चरित असुर सुत को कह्यो।
यों द्वेषी शिशुपाल हरि, हाथनि मरि तन्मय भयो॥

---

# प्रह्लादजी के पूर्वजन्म का वृत्त

( ४६५ )

स वै महाभागवतो महात्मा
महानुभावो महतां महिष्ठः ।
प्रवृद्ध भक्त्या ह्यनुभाविताशये
निवेश्य वैकुण्ठमिमं विहास्यति ॥*
( श्री भा० ३ स्क० १४ अ० ४७ श्लो० )

छप्पय

पूर्व जन्म महँ हते विप्र प्रह्लाद यशस्वी ।
मातु पिता के भक्त धर्मरत परम तपस्वी ॥
लैंन परीक्षा पिता देह महँ कुष्ट बनायो ।
घृना तनिक नहिँ करी अमृत को घड़ा भरायो ॥
पुत्र भक्ति तैं पिता हू, अति प्रसन्न तिनि पै भये ।
आशिष दै दीक्षा दई, पत्नी सँग बन कूँ गये ॥

जीव की जब तक किसी में निष्ठा नहीं होती जब तक उसके

---

* कश्यपजी प्रह्लादजी के जन्म के पूर्व ही कह रहे हैं—वह महात्मा प्रह्लाद परम भागवत परम प्रतापी महान् से भी महान् उदाराशय होगा । वह अपने प्रवृद्ध भक्ति भाव से विशुद्ध अन्तःकरण में श्री हरि को स्थापित करके इस शरीर का परित्याग करेगा ।

हृदय मे आस्तिकता, दृढ़ता, स्थिरता, कर्तव्य में तत्परता त्था सहनशीलता नहीं आती। निष्ठा सम्बन्ध से होती है। सबसे अधिक सम्बन्धी माता पिता हैं। वे इस शरीर को देने वाले हैं! इनसे भी अधिक सम्बन्धी श्री गुरुदेव हैं, जो अज्ञान को मेंटकर ज्ञान ज्योति प्रदान करते हैं। तभी तो शास्त्रकार इस बात पर पुनः पुनः बल देते हैं कि माता को देवता के समान समझो, पिता को देवता के समान समझो और आचार्य को देवता के समान समझो। जो मातृदेव, पितृदेव तथा आचार्य देव हैं, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती। जिनके घर में मात पिता हैं और यदि वे तीर्थों में भटकते हैं, तो उनका तीर्थ भ्रमण व्यर्थ है। अरे, जब घर में जंगमतीर्थ उपस्थित है, तो स्थावर तीर्थों में क्यों जाते हैं? माता पिता से बढ़कर संसार में कौन तीर्थ है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! मैं आपको महाभागवत प्रह्लाद जी के पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनाता हूँ, उसे आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

समुद्र से घिरी हुई प्राचीन काल में द्वारिका नाम की एक परम पावन पुरी थी। जिसे गन्धर्वों के खंडहर कर देने पर द्वापर के अन्त में भगवान ने फिर से उसे बसाया है! यह अति प्राचीन पुरी है। पूर्व काल में इस पुरी में वेद वेदाङ्गों के ज्ञाता परम धार्मिक शिवशर्म्मा नामक एक परम तपस्वी ब्राह्मण रहते थे। उनके पाँच पुत्र थे। सबसे बड़े का नाम यज्ञशर्म्मा दूसरे का नाम वेदशर्म्मा तीसरे का नाम धर्म्मशर्म्मा, और चौथे का नाम विष्णुशर्म्मा था। ये सबके सब धर्मात्मा मातृ पितृभक्त और पिता की आज्ञा के अनुसार ही बर्ताव करने वाले थे। इन सबके इष्ट पिता ही थे। पिता से बढ़कर ये किसी देवता को नहीं

मानते थे। पितृसेवा करते करते वे चारों भी सिद्ध हो गये थे। सभी को मानसिक सिद्धि प्राप्त हो चुकी थी।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! यह त्रेता युग की बात है। उन दिनों सभी प्रायः सदाचारी, नियम संयम से रहने वाले शांत तथा दान्त होते थे। देवता प्रत्यक्ष पृथिवी पर आते जाते थे। तपस्या के प्रभाव से मनुष्य जीवित ही स्वर्ग चले जाते थे और इच्छानुसार लौट आते थे। महाराज दशरथ, महाराज खट्वाङ्ग आदि अनेकों राजा दैत्यों से युद्ध करने देवताओं की ओर से गये थे। कई पृथिवी के राजा तो इन्द्रासन पर बैठकर स्वर्ग का शासन तक करते थे। तपस्या के प्रभाव से उन दिनों ब्राह्मणों को वर तथा शाप देने की भी शक्ति थी जिसे प्रसन्न होकर जो चाहते वर दे देते, क्रोध में आकर जो चाहते शाप देते। आज कलियुग में तो लोग इन बातों पर विश्वास ही न करेंगे। क्योंकि अब लोगों में श्रद्धा नहीं, संयम नहीं, सदाचार नहीं, साधुता नहीं। जो अपनी इन्द्रियों पर विजय कर लेते हैं, कामिनी काञ्चन के लोभ को पास नहीं फटकने देता। वह जो चाहे सो कर सकता है। तपस्या में निरत हुए साधु की यही परीक्षा थी कि उसके मन में कामिनी काञ्चन की चाह तो नहीं रही है। इसीलिये इन्द्र जिसे भी उग्र तपस्या करते देखते हैं उसी के समीप स्वर्ग की अप्सरायें भेजते हैं।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! ये स्वर्ग की अप्सरायें होती भी हैं या वैसे ही आकाश पुष्प समान नाम लेने को ही हैं। कलियुग में तो वे दिखाई नहीं देतीं। पहिले तो जहाँ भी जिसने तनिक तपस्या की, कि तुरन्त इन्द्र अप्सराओं को भेज देते थे। आजकल तो लोग इतनी तपस्या करते हैं किसी के समीप अप्सरायें नहीं आतीं। यह क्या बात है?"

इतना सुनते ही सूतजी गम्भीर हो गये और बोले—"महाराज ! ये जितनी वेद पुराणों में बातें कही गई हैं सब सत्य हैं। यह हमारी श्रद्धा की कमी है, कि हमें उन पर विश्वास नहीं होता। वेद शास्त्रों में से पुनर्जन्म तथा परलोक सम्बन्धी बातें निकाल दी जायँ, तो उनमें शेष ही क्या रहेगा। नीचे ऊपर अनेकों लोक हैं। उनमें देव, असुर, गुह्यक, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, पलग किंपुरुष, किन्नर, भूत वैताल आदि अनेकों प्रकार के प्राणी रहते हैं। देवता हैं, स्वर्ग हैं, उसके अधिपति इन्द्र हैं, अप्सरायें हैं। ये सब पुण्य से तपस्या से प्राप्त होते हैं। कलियुग में इतना पुण्य कहाँ रहा है ? पहिले बात बात पर गौदान, सुवर्णदान भूमिदान होता था। एक एक आदमी नित्य लाख लाख गौदान करता था, अब लाख गौएँ देखने को नहीं मिलतीं। पहिले लाख लाख वर्ष बिना खाये तपस्या करते थे, तब इन्द्र का आसन डगमगाता था। तब इन्द्र को अप्सरा भेजने की चिन्ता होती थी आज तो एक दिन भी अन्न न मिले तो हमारे प्राण ही डगमगाने लगेंगे। पहिले लोग इन कामिनी काञ्चन को तुच्छ समझकर इनकी ओर से दृष्टि हटा कर तब तप करते थे। जब इन मर्त्य लोक की ललनाओं से विरक्ति होती थी, तब स्वर्गीय अप्सरायें आती थीं। कलियुगी तपस्वी तो इन मानवीय रूपों को ही देखकर फिसल जाते हैं। तनिक से चाकचिक्य और सौन्दर्य को ही देखकर चंचल हो जाते हैं, फिर इनके पास अप्सराओं को इन्द्र क्यों भेजें। जो सहज में तमाचे से ही मर जाय, उसके लिए बड़ा अस्त्र उठाने की आवश्यकता क्या है। भगवन् ! कलियुग में कामिनी काञ्चन का लोभ सिद्धि प्राप्त नहीं होने देता। इनमें आकर्षण तो अनादि काल से है। सत्ययुग में भी लोग मोहित होते थे, किन्तु जिसकी जितनी ही बड़ी सामर्थ्य होती

थी, जिसका जितना ही बड़ा त्याग वैराग्य होता था, उसे उतनी ही बड़ी वस्तु प्राप्त होती थी। कलियुगी जीवों के हृदय में तो कामिनी काञ्चन का लोभ भरा रहता है। ऊपर से जप, तप, पूजा, पाठ, परोपकार करते हैं। इन शुभ कर्मों से लोगों का उनके प्रति आकर्षण होता है। नर नारी उनके समीप आने जाने लगते हैं। जहाँ तनिक अनुराग का आकर्षण हुआ कि फिर गोविन्दाय नमो नमः हो जाती है। जो है सो मुनियो! तुम्हारा रामजी भला करें, सब जप तप भूल जाते हैं। हृदयधन को छोड़ कर संसारी धन संग्रह करने में लग जाते हैं, राम को भूलकर राँड़ों के चक्कर में फँस जाते हैं। ऐसी दशा में अप्सरायें क्यों आवें। इसी से कलियुगी बगुला भगतों को भगवान् के दर्शन नहीं होते हैं। ऐसी ही शंका एक दिन श्रीनारदजी ने भगवान् से की थी।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! नारदजी ने भगवान् से क्या शंका की और भगवान् ने उसका क्या उत्तर दिया, कृपा करके इस कथा को आप हमें सुनावें।"

शौनक जी की बात सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो! इस सम्वाद को मैं आपको सुनाता हूँ आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

एक दिन नारदजी भगवान् वैकुन्ठनाथ के समीप गये। वहाँ जाकर उन्होंने भगवान् को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बोले—"भगवन्! आप कलियुगी जीवों के प्रति इतने कठोर क्यों हो गये हैं।"

भगवान् ने आश्चर्य के साथ पूछा—"क्यों, क्यों नारद जी! क्या हुआ?"

नारदजी ने बात पर बल देते हुए कहा—"महाराज! हुआ

क्या, अन्य युगों में तो आप स्मरण करते ही आजाते थे कलियुग में लोग आपका इतना भजन करते हैं, इतना पुकारते हैं, फिर भी आप दर्शन नहीं देते। आपके भक्त आपके लिये सदा व्याकुल बने रहते हैं।"

भगवान् ने अन्यमनस्क भाव से कहा—"नारद जी! मुझे कौन पुकारता है, यदि मुझे कोई हृदय से पुकारे, तो मैं रह ही नहीं सकता।"

नारदजी ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"भगवान्! आप ये कैसी बातें करते हैं। मैं तो भारतवर्ष में नित्य ही जाता हूँ। वहाँ तो मैंने भक्तों को देखा है, प्रेम में विभोर होकर बहुत से रोते हैं, बहुत से गाते हैं, बहुत से कीर्तन करते करते मूर्छित हो जाते हैं। बहुत से दान करते हैं। बहुत से तप करते हैं, बहुत से अखंड कीर्तन करते हैं। प्रातः नहाने आते हैं, आपको पुकारते हैं, चिल्लाते हैं, किन्तु न जाने क्यों आप किसी की पुकार सुनते ही नहीं, बहरे से बने बैठे रहते हैं।"

भगवान् ने आह भरके कहा—"अजी नारद जी! मुझे कौन पुकारता है। मन में काम और दाम भरा है ऊपर से मुझे पुकारते हैं। दिन भर पाप करते हैं पाप को छिपाने—भक्त बनने को लम्बे तिलक लगाते हैं सुमिरिनी हाथ में लेकर झूठे ही होठ चलाते हैं। मुख में राम बगल में ईंट, ऐसे ये कलियुगी बगुला भक्त हैं। दान देंगे तो नाम के लिये प्रति दिन पाप से पैसा पैदा करेंगे, दीन दुखियों का रक्त शोषण करेंगे उस पाप के पैसे में से प्रतिष्ठा पैदा करने को दान करेंगे। जो वे चाहते हैं वही मैं देता हूँ। वे मेरे दर्शनों में सुख नहीं मानते काम के और दाम के सुख को ही सबसे श्रेष्ठ सुख समझते हैं। उन्हें मेरी इच्छा नहीं काम सुख और दाम सुख के ही वे इच्छुक हैं।

मैं तो भावग्राही हूँ। अन्य लोगों को भ्रम में डाल सकते हैं किन्तु मैं तो अन्तर्यामी हूँ। घट घट की जानने वाला हूँ। मुझसे किसी के भाव छिपे नहीं रहते अतः भावानुसार फल देता हूँ। तुमने यदि कोई मुझे चाहने वाला भक्त देखा हो तो बताओ। अभी चलकर मैं उसे दर्शन दे सकता हूँ।

यह सुनकर नारदजी तो परम विस्मित हुए। अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"विभो ! आप कैसी विचित्र बातें कह रहे हैं। एक नहीं मैंने सहस्रों भक्त आपके दर्शनों के लिये उत्कंठित और रोते हुए देखे हैं। बहुतों का तो आहार ही सत्संग है। सत्संग के लिये वे दूर दूर जाते हैं, बहुत से नित्य गंगा नहाते हैं, बहुत से अन्न छोड़कर फल फूल ही खाते हैं; बहुत से बोलना छोड़कर मौनी कहाते हैं, बहुत से सत्संग के लिये भक्तों को दूर दूर से बुलाते हैं, बहुत से नियमित सत्संग कीर्तन कराते हैं। आप प्रकट हों, तो फिर देखिये कितनी भीड़ लग जाय, कितने भक्त आनन्द में तन्मय हो जायँ।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, मैं तो भक्तों के दर्शनों को लालायित ही बना रहता हूँ। चलो; कोई भक्त मिल जाय तो मैं भी उसके दर्शनों से कृतार्थ हो जाऊँ।"

यह सुनकर परोपकारी नारदजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उनका तो व्रत ही है, जैसे हो तैसे जीवों को भगवान् के सम्मुख करना। भूले भटकों को मार्ग दिखाना। भगवान् की दयालुता का स्मरण करके उनका हृदय भर आया। सोचने लगे—"वहाँ जाऊँगा, वहाँ के भक्तों को यह सुखद सम्वाद सुनाऊँगा। उन्हें भगवान् के दर्शन कराऊँगा।" ऐसी अनेक बातें सोचते हुए भगवान् के पीछे पीछे वे चले। आज भगवान्

ने गरुड को साथ नहीं लिया, स्वयं चतुर्भुज रूप से नारदजी के साथ हो लिये।

भगवान् ने नारद जी से पूछा—"कहो नारद जी, पहिले कहाँ चलें ?"

नारदजी कुछ सोचकर बोले—"भगवान् ! पहिले प्रयागराज ही पधारें। वह समस्त तीर्थों का राजा है। पृथ्वी का जघन स्थान है। भारत का केन्द्र है, सभ्यता का उद्गम है, परम पावन ब्रह्मावर्त प्रदेश है, गंगा यमुना का संगम है, कल्पना में भी नाश न होने वाला वहाँ अक्षयवट है, प्रान्त भर का प्रधान न्यायालय है। सभी देशों के सहस्रों यात्री संगम स्नान करने वहाँ आते हैं। कथा कीर्तन भी वहाँ निरन्तर होता रहता है। घर घर कीर्तन होता है, संगम पर भक्तों की भीड़ लगी रहती है। वहाँ अभक्त तो आवेगा ही क्यों ! वहीं पधारें। वहाँ एक साथ सहस्रों लाखों भक्तों के दर्शन हो जायँगे। वहाँ से यह सुखद सम्वाद सर्वत्र व्याप्त हो जायगा। पुनः काशी चलेंगे। ऐसे ही पृथ्वी के सभी मुख्य मुख्य स्थानों के भक्तों को दर्शन देकर उनके जीवन को सफल बनायेंगे।"

भगवान ने कहा—"चलो, भाई ! अब तो नारदजी ! हम तुम्हारे अधीन हैं, जहाँ चाहो ले चलो। यह कहकर भगवान् नारदजी के साथ चल दिये और बात की बात में तीर्थराज प्रयाग में आ गये। जहाँ गंगा और यमुना परस्पर हिल मिल कर प्रेम प्रदर्शित कर रहीं हैं, जहाँ श्री माधव १२ रूपों से प्रयाग मण्डल के चारों ओर निवास करते हैं। उस समस्त तीर्थों के सम्राट् प्रयाग क्षेत्र में नारदजी के सहित भगवान् उतरे। संगम से अर्ध कोश इन्द्र की पूर्व दिशा में जहाँ भगवान शंखमाधव रूप से विराजते हैं वहाँ भगवान नारद के संग उतरे। सघन अमराई

और मंदिर के समीप सघन वट वृक्ष को देखकर भगवान वहीं गये और नारदजी से बोले—"नारद ! देखो सहज में जो वस्तु प्राप्त हो जाती है, उसका लोग आदर नहीं करते। जो वस्तु कुछ परिश्रम से प्राप्त होती है, उसका महत्व अधिक होता है। हम तो वैकुंठ से इतनी दूर आगये। अब घर दर्शन देने जाना उचित नहीं। जिन्हें दर्शन की लालसा हो यहीं बुला लाओ नित्य संगम भी तो लोग आते ही हैं। संगम के संनिकट तो है ही, यहीं भक्तों को बुला लाओ।"

नारदजी ने कहा—"हाँ महाराज, बहुत उत्तम है। अभी मैं यहीं भक्तों को लाता हूँ आप इस वट वृक्ष की छाया में विराजें अन्तर्धान न हो जायँ।"

भगवान् ने कहा—"नहीं, नारदजी ! अन्तर्धान होने की क्या बात है, भक्त जितने मेरे दर्शनों को लालायित रहते हैं, उनसे सौ गुना मैं उनके दर्शनों को लालायित रहता हूँ। आप जावें और जो भी भक्त मेरे दर्शनों को आना चाहे उसे ही लिवा लावें। इसमें किसी प्रकार का भेद भाव न करें।"

यह सुनकर नारदजी ने शीघ्रता से अपनी वीणा उठाई। ग्रीष्म काल था। वैशाख का महीना, त्रिवेणी जी पर बड़ी भीड़ थी। नारदजी ने वीणा की तान छेड़ी और सबसे कहा—"जिसे भगवान् के साक्षात् दर्शन करने हों शंख माधव जी पर चल कर करलें।"

यह सुनकर कुछ हँसे, कुछ मुसकराये। कुछ ने कहा—"भगवान् तो सर्वत्र हैं।" कुछ ने कहा—"भगवान् कहीं ऐसे आते हैं ?"

नारदजी ने दृढता के साथ कहा—"अरे, तुम लोग बड़े अश्रद्धालु हो रे ? प्रत्यक्ष में प्रमाण क्या, शंख माधव जी यहां से कुछ दूर तो हैं नहीं चल कर देख लो। जिसके लिये तुम सब

इतना भजन, ध्यान, गंगा स्नान करते हो वे प्रत्यक्ष पधारे हैं।" इस प्रकार नारदजी ने एक प्रभाव शाली भाषण दे डाला, सब सुनकर हँसने लगे किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। तब तो नारद जी एक एक से पूछने लगे कुछ सफेद कपड़े वाले नहा रहे थे— उसने कहा—"तुम क्यों नहीं चाहते ? इतनी श्रद्धा से गंगा स्नान करते हो। उन्होंने कहा—"बाबा ! हमतो स्वास्थ्य के लिये नहाने चले आते हैं।" किसी ने कहा—हमें दुकान खोलनी है, किसी ने कहा—"हमें नौकरी पर जाना है, लौटने में अभी विलम्ब हो रहा है। समय पर न पहुँचे तो नौकरी भी जायगी।" किसी ने कहा—"हमें न्यायालय जाना है।" स्त्रियों ने कहा—हमें भोजन बनाना है।" सारांश यह है कि कोई भी नारदजी के संग चलने को उद्यत नहीं हुआ। नारदजी ने सोचा—"चलो, ये लोग तो नित्य आने वाले हैं, सब के समय बँधे हैं। नगर में चले, वहाँ भक्त मिलेगे। अब नारदजी मन्दिरों में गये, सत्संग के अड्डों पर गये, अखाड़ों में गये। सारांश जहाँ भी इन्हें भक्तों की आशा थी सब स्थानों में घूमे। कोई कहीं दौड़ा जा रहा है, कोई किसी चिन्ता मे मग्न है, कोई किसी कार्य के पीछे पड़ा है। नारदजी की बात सब सुनलें, कोई हँस दें, कोई अवकाश न होने से दुःख प्रकट कर दें, कोई विवशता बतादें, सारांश कोई उनके साथ चलने उद्यत नहीं हुए दोपहर होगया था। ठीक दोपहर में कौन घर से बाहर हो सकता है नीचे से ऊपर छत पर जाना भारी हो जाता है। नारद-जी को बड़ी निराशा हुई। दोपहर ढल चुका था। कार्यालय से कार्य कर करके लोग लौट रहे थे। नारदजी जिसे भी तिलक लगाये देखें उसी से कहें। सब कहें—"बाबा कृपा करो। दिन भर के क्लान्त तो अभी लौटे हैं। तुम ही भगवान् के दर्शन कर आओ। अब तो नारदजी को दुःख भी हुआ, निराशा भी हुई।

लज्जा भी लग रही थी, भगवान् के पास कैसे जायँगे ? सोचा— "उस पार प्रतिष्ठानपुर में सुना बहुत कीर्तन होता है। वहाँ भगवान् के ही नाम पर घर बार छोड़ने वाले बहुत से संत महात्मा साधक कुछ अवश्य मिलजायँगे। शंख माधव वहाँ से समीप भी पड़ते हैं। यह सोचकर नारदजी प्रतिष्ठानपुर ( झूसी ) में आये। जिसे देखें उसीसे कहें—"देखो,भैया ! मैं नारद हूँ, भगवान् दर्शन देने शंख माधव जी पर बैठे हैं। चलो दर्शन कर आओ। लड़के कहें—"हमें पढ़ना है।" कोई कह दें हमें अमुक काम करना है कुछ कहें—"हमें कथा कीर्तन में जाना है। कुछ माताओं को नारदजी ने देखा—उनसे भी कहा। वे बोलीं—"महाराज ! क्या करें इतना काम करना है, इतनी दूर हमसे चला भी न जायगा, फिर उधर से लौटना भी कठिन है। यह निश्चित भी नहीं भगवान् हैं भी या नहीं ?"

इस पर नारदजी ने कहा—"मैं नारद होकर झूठ बोलूँगा ?"

माताओं ने कहा—"अजी, महाराज ! यहाँ तो सब शुकदेव, नारद, दत्तात्रेय ही आते हैं। इससे कम तो यहाँ कोई आता ही नहीं।"

नारदजी ने कहा—"वे सब बनावटी नारद, शुक हैं। मैं यथार्थ नारद हूँ।"

वे बोलीं—"अब, महाराज ! यथार्थ और बनावटी की परीक्षा कौन करे। सब सत्य ही हैं "हरि व्यापक सर्वत्र समाना प्रेम तें प्रकट होहिं भगवाना"। सब जगह भगवान् हैं। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'।

नारद जी अपना सा मुँह लेकर फिर संगम पर आये कुछ यात्री थे, कुछ सायंकाल को घूमने फिरने लोग आ गये थे कुछ निषाद कैवर्त थे। नारद जी झुंझला रहे थे। अकेले वे लौटना

नहीं चाहते थे। वहाँ उन्होंने एक प्रभाव शाली व्याख्यान दिया और अन्त में कहा—"मैं तुमसे कुछ माँगता नहीं। कोई परिश्रम नहीं कराता। दूर जानेको नहीं कहता। मेरी बात पर विश्वास तो करो। भगवान् के दर्शन करके इस मनुष्य देह को सफल करो। भगवान् न हों तो जो कारे चोर को दण्ड दिया जाता है, वह मुझे दें।" कुछ उत्साही १०।५ नवयुवक थे। कुछ यात्री थे कुछ अन्य भक्त थे। सबने कहा—"अच्छी बात है, चलो देखें अपना बिगड़ता ही क्या है। न भगवान् होंगे, टहलना ही हो जायगा।" यह सोच कर वे नारदजी के पीछे चल दिये। कुतूहल वश कुछ कैवर्त निषाद भी साथ हो लिये कुछ यात्री, कुछ भक्त ऐसे १०० २०० आदमियों की भीड़ नारदजी के साथ चली। कुछ स्त्रियाँ भी जाने को उत्सुक थीं, किन्तु इसी भय से न जा सकीं कि लौटने में देरी होगी। रात्रि में कैसे लौटेंगी, घरवाले क्या कहेंगे। स्त्रियों का जन्म तो भगवान् ने व्यर्थ ही दिया, जीवन भर वन्दिनी बन कर—परमुखापेक्षी रहकर बिताना पड़ता है।" यों विधाता को कोसती हुई वे लौट गईं।

नारदजी बड़े उत्साह से आगे जा रहे थे, उन्हें सन्तोष था, इतने भक्त तो मिल गये बीच में भगवान् ने क्या माया रची कि तनिक आगे बढ़ते हैं, मार्ग में पैसों का ढेर लगा था। कुछ लोगों ने कहा—"अजी, वहाँ क्या रखा है बाँधले इन्हें।" जब कुछ लोग उधर लपके तब नारदजी ने व्याख्यान देना आरम्भ किया—"छिः छिः बड़े दुःख की बात है। मनुष्य देह पाकर इन ताँबे के ठीकरों के लालच से भगवान् के दर्शनों से वंचित रहते हो। भगवान् के दर्शन हो गये तो मानों सब मिल गये। किन्तु नारद जी की बात को कौन सुनता है। कुछ तो गठरी बाँधकर लौट आये। कुछ लोग उनकी ओर न देखकर आगे बढ़े। कुछ दूर

चलने पर चाँदी के रुपयों का ढेर मिला। बहुत से वहीं फिसल गये। जो बचे वे आगे बढ़े। और आगे बढ़कर सुवर्ण की मुद्रायें मिलीं। कुछ वहाँ अटक गये। जो बचे उन्हें आगे मणि माणिक्य मोती मिले। नारदजी के मना करने पर शेष उनपर टूट पड़े। ५ ऐसे साहसी निकले जो उन्हें भी ठुकरा कर नारद जी के पीछे पीछे चले।

आगे चलकर भगवान् की माया से निर्मित् अत्यन्त ही सुन्दर पाँच युवती लड़कियाँ खड़ी थीं, वे रो रही थीं। उन पाँचों ने जाकर पूछा—"देवियो! तुम क्यों रो रही हो?

उन्होंने सिसकियाँ भरते हुए कहा—"हम राजपरिवार की कुलीना कुमारी हैं, हमारे देश में उपद्रव हो गया है। हम वहाँ से भाग आई हैं। हम चाहती हैं हमारा कोई उद्धार करे। हमारे साथ कोई विवाह करले। हमारे पास धन भी है यथेष्ट अमूल्य आभूषण भी हैं। इतनी सुन्दर स्त्री और अटूट धन इस लोभ को वे युवक न रोक सके। तब तो नारदजी को बड़ा क्रोध आया और वे लाल लाल आँखें करके बोले—"अरे, तुम लोगों की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। देखो, ये न स्त्री हैं न इन पर यथार्थ धन है। यह तो भगवान् की माया है, तुम्हें भ्रम में डालने तुम्हारी परीक्षा लेने भगवान् ने यह सब माया प्रदर्शित की है तुम इन डाइनों के चक्कर में मत पड़ो। किनारे पर आकर नौका को मत डुबोओ। भगवान के दर्शन करने से आठों सिद्धि नवो निद्धि प्राप्त होगीं। ये तो परमार्थ में विघ्न करने वाली हैं।"

यह सुनकर उनमें से एक बिगड़कर बोला—"तुम साधु हो कि राक्षस? दुखी की सेवा करना यही साधुता है। प्रतीत होता है तुम कोई धूर्त हो।"

नारदजी ने कहा—"देखो, अभी परीक्षा हो जाती है, तुम

मेरे साथ चलो, इनको छोड़ो। तुम अपने हृदय पर हाथ रख कर पूछो, तुम परोपकार बुद्धि से अपनाना चाहते हो या लोभवश। तुम तो अत्यन्त सन्निकट आ गये हो। इन्हें लेना ही है तो लौट कर ले लेना।

इस पर एक ने कहा—"हाँ, अच्छी बात है, यहाँ ये बैठें हम अभी देखकर लौटते हैं।"

यह सुनकर वे लड़कियाँ बोलीं—"अब सूर्यास्त हो ना ही चाहता है, हम इस अरण्य में अब अधिक न ठहरेंगी आप हमें छोड़ जायँगे तो हम नगर में जाकर कहीं अन्य स्थान में शरण की याचना करेंगी।"

इस पर एक बोला—"अच्छी बात है, दो आदमी इनके पास बैठो, तीन इन बाबा जी की बात की भी परीक्षा कर आओ।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! यह धन और स्त्री ऐसी वस्तुएँ हैं, कि मनुष्य सहसा दूसरे पर विश्वास करता ही नहीं। सगे से सगे पर अविश्वास हो जाता है। अब उनमें इसी बात पर वाद विवाद उठ खड़ा हुआ कौन इनके समीप रहे। अन्त में एक ने कहा—"ये भी साथ ही भागवान् के दर्शन को चले।"

इस पर उन लड़कियों ने कहा—"देखिये! आप सब कुलीन परिवार के प्रतीत होते हैं। हम आपको स्पष्ट बता देना चाहती हैं, कि इस बाबाजी के साथ हम एक पग भी न जायँगी। यह हमें कोई ठग प्रतीत होता है। साधु तो कोमल स्वभाव के होते हैं। उनके लिए स्त्री पुरुष सब समान हैं। यह तो दया से हीन कठोर हृदय का है। अवश्य ही तुम लोगों को यह किसी बड़े चक्कर में फँसाना चाहता है। आप लोग इसके चक्कर में फँसते हैं तो हम तो चलीं।

यह कहकर वे चलने को उद्यत हो गई। अब तो सब का मन डाँवा डोल हो गया। इधर भगवान दर्शनों की इच्छा थी इधर हाथ में आई लक्ष्मी जा रही हैं। अन्त में उन्होंने सोचा इस बाबा जी का क्या विश्वास। आई लक्ष्मी को क्यों ठुकराते हो? 'बोल उलूक वाहिनी की जय, कह कर वे उन्हें लेकर लौट पड़े। नारदजी चिल्लाते ही रह गये, किसी ने उनकी ओर फिर कर देखा तक नहीं।"

अब तो नारदजी बड़े दुखी हुए। अत्यन्त लज्जा के साथ लौट कर भगवान के समीप पहुँचे। भगवान ने बड़े उल्लास से खड़े होकर कहा—"आइये, नारद जी! आइये। कहाँ है आपकी भक्त मण्डली? बड़ी देर लगादी। मैं तो तभी से प्रतीक्षा कर रहा था, मुझे तो पल पल भारी हो रहा था।"

नारदजी ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! आपकी माया अपरम्पार है। जब माया से छूटें तब मायापति की शरण में आवें। सभी किसी न किसी प्रकार की माया के चक्कर में फँसे हैं। हे प्रभो! आपही जिस पर कृपा करें वही आपकी गुण मयी दुरत्य माया से छूट सकता है। जीव तुम्हें नहीं चाहते। तुम्हारे नाम को वे शस्त्र नहीं मानते। वे तो पापों से प्यार करते हैं। आपके नाम का उपयोग वे ढाल के स्थान में पापों की रक्षा के निमित्त करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"सो, मुनियो! परमार्थ पथ में ये बड़े दो ही विघ्न हैं काम और लोभ। जिन्होंने इन पर विजय प्राप्त करली वह सिद्ध हो गया। शिवशर्मा के पाँचों पुत्रों ने इन दोनों पर विजय पाली थी, अतः वे अपने संकल्पों को सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ थे। शिवशर्मा स्वयं योगी थे।

योग की सिद्धियों से वे जब जैसा चाहते थे तब वैसा रूपरख सकते थे।

एक बार शिवशर्मा ने अपने पाँचों पुत्रों की परीक्षा करने का निश्चय किया, कि ये मेरे पूर्ण भक्त हैं या नहीं। इसी उद्देश्य से उन्होंने अपनी पतिव्रता पत्नी को माया से रोगिणी बना दिया और कुछ काल में माया से ही उसे मृतक भी बना दिया। तब उन्होंने अपने सबसे ज्येष्ठ पुत्र यज्ञशर्मा को बुलाकर कहा "बेटा! यह तुम्हारी जननी मर गई है। अब इससे अपने लोगों का क्या प्रयोजन? इसे वन में ले जाओ और काट कर टुकड़े टुकड़े करके फेंक आओ।" यह सुनकर यज्ञशर्मा ने कुछ आपत्ति न की। पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके वे माता के मृतक शरीर को उठा ले गये और वन में फेंक आये। फिर पिता से आकर कहा—"पिताजी, मैंने आपकी आज्ञा का अक्षरशः पालन कर दिया। अब मेरे लिये क्या आज्ञा होती है?"

अपने पुत्र की ऐसी पितृभक्ति देखकर योग से सिद्ध हुए शिवशर्मा अत्यन्त प्रसन्न हुए। यद्यपि वे जानते थे, कि मेरे पाँचों पुत्र पितृ भक्त और सिद्ध हैं फिर भी लोक में उनकी प्रसिद्धि कराने के लिये उन्होंने यह माया रची। जब प्रथम पुत्र की परीक्षा हो गई तो दूसरे वेदशर्मा की उन्होंने परीक्षा लेनी चाही। माया से उन्होंने एक अत्यन्त ही रूपवती स्त्री की रचना की और अपने द्वितीय पुत्र वेदशर्मा से बोले—"बेटा! यद्यपि तुम सब मेरी बड़ी सेवा करते हो, बड़े पितृ भक्त हो, किन्तु तुम जानते हो, स्त्री जैसी सेवा करती है, वैसी सेवा कभी कोई दूसरा कर ही नहीं सकता। स्त्री, माता, सखा, मंत्री सभी का काम देती है। फिर स्त्री के हाथ के भोजन में जो स्वाद होता

है, यह पुरुष के धनार्थ भोजन में कभी हो ही नहीं सकता। स्त्रियों में अन्नपूर्णा का अंश होता है। पुरुष के लिये संसार में स्त्री से बढ़कर सुख देने वाला कोई नहीं है। मेरी स्त्री मर गई है, मैं स्त्री के बिना रह नहीं सकता। समीप में जो यह स्त्री है इसी से हम पुनर्विवाह करना चाहते हैं। यह स्त्री जैसे भी सन्तुष्ट हो, तैसे इसे सन्तुष्ट करके हमारे लिये ले आओ। यदि यह स्त्री न मिली तो हम बचेंगे नहीं।"

पिता की ऐसी बात सुनकर वेद शर्म्मा ने कहा—"पिताजी, मैं अपने प्राणों का बलिदान देकर भी आपकी इच्छा की पूर्ति करूँगा।" यह कहकर वह उस माया निर्मित सुन्दरी के समीप गया। वहाँ जाकर उसने कहा—"देवि! मेरे पिता आपसे विवाह करना चाहते हैं, आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों और मेरे पिता को भजें।"

उस स्त्री ने कहा—"देखिये, महान्! आप युवक होकर कैसी अधर्म की बात कर रहे हैं। उस बूढ़े से विवाह करने में मुझे क्या लाभ? उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हैं। दिन भर खों खों करता रहता है, कफ से वह स्थान को भ्रष्ट करता है, लाठी लेकर चलता है। ऐसे खूँसट से मैं विवाह करना नहीं चाहती।"

वेद शर्म्मा ने कहा—"देवि! मेरे पिता सिद्ध हैं, वे जो चाहें कर सकते हैं। आप मेरे ऊपर कृपा करके उन्हें अपनावें।"

स्त्री ने कहा—"महान्! आप उस बूढ़े की अधर्म की बात का व्यर्थ समर्थन क्यों कर रहे हैं। उसे इस वृद्धावस्था में विवाह की क्या आवश्यकता है। विवाह का समय तो आपका है। मेरा चित्त तो आप में आसक्त है। मेरे पास यथेष्ट धन है

आप मेरे साथ विवाह करके संसार के सब सुखों को भोगें। बूढ़ों की तो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। पहिले अपना सुख देखना चाहिए। स्वयं सुखी रहेगा तभी धर्म कर्म भी कर सकेगा।"

वेदशर्मा ने कहा—"देवि! तुम ऐसी अधर्म की बात न कहो। जब तुमको मेरे पिता ने मन से वरण कर लिया है, तो तुम मेरी माता के समान हो। अतः ऐसी बातें आपको शोभा नहीं देतीं। अब वह बात बताओ जिसके करने से मेरे पिता की इच्छा पूर्ण हो सके।"

स्त्री ने कहा—"तुमने पितृ भक्ति करके क्या सिद्धि प्राप्त की है, उसे मुझे दिखाओ, तब मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूँगी। यदि तुममें कुछ सिद्धि है, तो मुझे देवताओं के दर्शन कराओ।"

यह सुनते ही वेद शर्मा ने देवताओं का मन से आवाहन किया। तुरन्त वहाँ इन्द्र वरुण कुबेर आदि देवता समुपस्थित हुए और वेदशर्मा से बोले—"ब्रह्मन्! हम आपकी पितृ भक्ति से सन्तुष्ट हैं, आप हमसे जो चाहे वर माँगलें।"

वेदशर्मा ने कहा—"मेरी पिता के चरणों में सदा अनन्य भक्ति बनी रहे। इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं चाहता।" देवता 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये। तब उस माया की स्त्री ने कहा—"देवताओं के देखने से मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ। यदि तुम सच्चे पितृ भक्त हो तो अपना सिर अपने हाथ से काट कर मुझे दो।" यह सुनते ही वेद शर्मा उछल पड़ा उसने कहा—"अहा! हम धन्य हैं। लोग कहा करते हैं, यह मनुष्य का शरीर किसी काम नहीं आता। यदि हमारे शरीर से पिता की कुछ सेवा हो सके, तो हमारा शरीर धारण करना सार्थक हो जाय।" यह कहकर उन्होंने तुरंत एक तीक्ष्ण खड्ग से अपना सिर काट कर उस स्त्री को दिया।

वह स्त्री उस शरीर को लेकर उनके पिता के समीप आई पिता ने जब अपने पुत्र का सिर उस स्त्री के हाथ में देखा, तो वे पुत्र की पितृ भक्ति देखकर प्रसन्न भी हुए और पुत्र के वियोग के कारण दुखी भी। ब्राह्मण के अन्य पुत्र उस स्त्री के साहस को देखकर थरथर काँपने लगे और वेदशर्म्मा के भाग्य की प्रशंसा करने लगे।

पिता शिवशर्म्मा ने अपने तीसरे पुत्र धर्मशर्म्मा को बुला कर कहा—"बेटा, हम इस स्त्री के साथ विवाह तो करना चाहते हैं, किन्तु जब तक हमारा आज्ञाकारी पुत्र वेदशर्म्मा जीवित न होगा तब हमें न शान्ति होगी न सुख। तुम इस बच्चे के सिर को ले जाओ और जैसे वह जीवित हो सके वैसा उद्योग करो।" यह सुनकर धर्मशर्मा ने कहा—प्रभो! मेरा भाई आपके धर्म के प्रभाव से अवश्य ही जीवित होकर आपको हर्षित करेगा।" यह कहकर वे मृतक भाई के समीप गये। वहाँ उसके धड़ में सिर जोड़ कर उन्होंने कहा—"मैंने मन से, वचन से, तथा कर्म से सदा पितृ भक्ति की हो तो धर्मराज अभी आकर इस मेरे भाई को जिलादें।" इतना कहना था कि धर्मराज वहाँ तुरन्त ही प्रकट हुए और धर्मशर्मा से बोले—"वत्स! मैं तुम्हारे शील, सदाचार, शम, दम, त्याग तथा तितिक्षादि गुणों से परम सन्तुष्ट हूँ तुम जो चाहो मुझ से वर माँगलो।"

धर्मशर्म्मा ने कहा—"प्रभो! यदि आप मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो यही वर दें कि यह मेरा भाई जीवित होकर मेरे पिता को सुख पहुँचावे।"

धर्मराज ने कहा—"यह तो होगा ही, इसके अतिरिक्त तुम जो वर चाहो मुझसे माँगलो।"

धर्मशर्मा ने कहा—"मैं यही वर माँगता हूँ, कि मेरी पितृ-चरणों में निरन्तर भक्ति बनी रहे और अन्त में मेरा मोक्ष हो।" "तथास्तु" कहकर धर्मराज चले गये, तुरन्त मृतक चन्द्रशर्मा जीवित हो उठे और दोनों भाई प्रसन्न होकर पिता के समीप गये। अपने पुत्र को पुनर्जीवित देखकर शिवशर्मा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, वे उस माया निर्मित प्रमदा के साथ आनन्द विहार करने लगे।

तीन पुत्रों की तो परीक्षा हो चुकी और चौथे विष्णुशर्मा की परीक्षा लेने के निमित्त पिता ने कहा—"बेटा! मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ, यदि तुम स्वर्ग जा कर मेरे लिये अमृत ला सको, तो मैं अजर अमर बन जाऊँगा।"

विष्णुशर्मा ने कहा—"बहुत अच्छा! पिताजी मैं आपकी आज्ञा से अभी स्वर्ग जाता हूँ।" यह कह कर वह अपने योग बल से स्वर्ग गया। इन्द्र ने उसके अभिप्राय को जानकर उसे लुभाने को स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी उर्वशी अप्सरा को भेजा, किन्तु पितृ भक्त विष्णुशर्मा उसके चक्कर में नहीं फँसे। इन्द्र ने दर्शन नहीं दिये, इस पर ब्राह्मणकुमार ने क्रोध करके दूसरा इन्द्र बनाने के संकल्प से अनुष्ठान किया। तब इन्द्र आये और अमृत का घड़ा देकर उन्हें सादर विदा किया। विष्णुशर्मा ने घड़ा लाकर पिता के चरणों में रख दिया।

अपने चारों पुत्रों की पितृ भक्ति को देखकर पिता अत्यंत प्रसन्न हुए और उनसे बोले—"पुत्रो! मैं तुम्हारी भक्ति और योग शक्ति तथा निष्काम वृत्ति से अत्यंत सन्तुष्ट हूँ, तुम मुझसे जो चाहो वर माँगलो।"

इसपर चारों भाइयों ने कहा—"पिता जी आप सर्व समर्थ हैं। आप जो चाहें, सो कर सकते हैं अतः हम आपसे

यही वर माँगते हैं, कि हमारी माता पुनः जीवित हो जाय।"

माता मरी तो थी ही नहीं। शिवशर्म्मा ने अपने योगबल से उसे अन्तर्हित कर दिया था। अतः वे बोले—"अच्छी बात है, तुम्हारी माता जीवित हो जायगी।" इतना कहना था कि माता जो तुरन्त वहाँ प्रकट हुई। पाँचों पुत्रों ने उनके चरणों में प्रणाम किया। उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा—"पुत्रों की इसीलिये कामना करते हैं, कि वे माता पिता का नरकों से उद्धार करें। तुमने अमर्त्य भक्ति से हमें सन्तुष्ट कर लिया अतः तुम्हारा कल्याण होगा" यह कह करके माता ने पुत्रों को आशीर्वाद दिया। उनका सिर सूँघ कर बहुत प्यार किया।

१२ वर्ष पश्चात् तीर्थयात्रा करके पिता लौटे। उन्होंने योगबल से अपने सम्पूर्ण शरीर में कुष्ट उत्पन्न कर लिया। उसी प्रकार अपनी पत्नी के शरीर में भी। वे इस प्रकार कुष्ट रोग से ग्रसित होकर दीन हीन दशा में सोमशर्म्मा के समीप आये। अपने माता पिता को कुष्ठी देखकर भी सोमशर्म्मा ने उनके प्रति तनिक भी अश्रद्धा प्रकट नहीं की। बड़ी भक्ति के साथ उनके चरणों की वन्दना की और कहा—"पिताजी! आप तो परम धर्मात्मा हैं, ऐसा धर्म का आचरण करने वाला तो मैंने कोई देखा नहीं। आपको यह भयंकर रोग कैसे हुआ? मेरी माता तो सती साध्वी स्त्रियों में शिरोमणि हैं यह रोग इनको किस कारण हुआ?

पिता ने कहा—"बेटा ! कर्मों के फल तो सबको भोगने पड़ते हैं। तुम हमारी सेवा करो।"

यह सुनकर सोमशर्म्मा तन मन धन से अपने माता पिता की सेवा में तत्पर हो गये। वे उनके घावों को स्वयं धोते। उनको सुन्दर से सुन्दर भोजन कराते। चरण सेवा करते। सारांश यह कि जितनी सेवा हो सकती है, उतनी वे करते। पिता उन पर कभी कभी कुपित हो जाते, डंडे से मार भी देते, किन्तु वे उनकी एकबात का भी न उत्तर देते न विरोध करते। उनकी मार को सह लेते। एक दिन पिता ने कहा—"पुत्र ! वह जो अमृत का घड़ा रखा है, उसे ले आओ। हम उसे पीकर निरोग हो जायँ।"

यह सुनकर सोमशर्म्मा उस स्थान पर गये जहाँ वह अमृत घट सुरक्षित रखा था। किन्तु उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा उसमें एक बिन्दु भी अमृत नहीं था। पिता ने योग बल से परीक्षार्थ सब अपहरण कर लिया था। तब तो सोमशर्म्मा ने हाथ में जल लेकर प्रतिज्ञा की—"यदि मैंने धर्म पूर्वक हृदय से माता पिता की देववत् पूजा की हो, तो यह घट पुनः अमृत से भर जाय।" देखते देखते घट अमृत से भर गया। सोमशर्म्मा उसे लेकर पिता के पास गये। इस पर पिता परम प्रसन्न हुए। उन्हें वैष्णव मंत्र की दीक्षा देकर वन को चले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! ये सोम शर्म्मा ही अंत में जाकर हिरण्यकशिपु के यहाँ पुत्र रूप में प्रह्लाद हुए और युद्ध में विष्णु भगवान् के हाथ से मारे गये।"

यह सुनकर शौनकजी चौंक पड़े और बोले—"सूतजी ! यह तो आप एक से एक विचित्र बातें बता रहे हैं। इतने

धर्मात्मा सोमशर्म्मा असुर योनि में क्यों उत्पन्न हुए और प्रह्लाद जी को युद्ध में भगवान ने क्यों और कब मारा ? प्रह्लाद जी तो जन्म से ही भगवान के भक्त थे। हमारी इस शंका का समाधान कीजिये।

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"मुनियों मैं आपकी शंका का समाधान करूँगा। इसमें एक बड़ा विचित्र रहस्य है यह बड़ी गूढ़ कथा है। आप ध्यान पूर्वक इसे सुनें।

छप्पय

मातु पिता वन जाइ मुनिनिके सब व्रत धारे।
अंत समय तनुत्यागि धाम वैकुंठ सिधारे॥
करैं योग, व्रत, नियम सोमशर्म्मा हू सब विधि।
सुख दुख महँ सम रहैं त्यागतैं भये तपोनिधि॥
अन्त समय आयो जबहिँ, असुर शब्द सुनि डरि गये।
दैत्य भाव हिय महँ धँस्यो, हिरनकशिपु के सुत भये॥

# प्रह्लादजी का तीसरा जन्म

( ४६६ )

अलम्पटः शीलधरो गुणाकरो
हृष्टः परद्‌र्ध्या व्यथितो दुःखितेषु।
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता
नैदाघिकं तापमिवोडुराजः ॥ ❋
(श्री भा० ३ स्क० १४ अ० ४८ श्लो०)

छप्पय

नाम धरयो प्रह्लाद मातु के अति ई प्यारे।
देवासुर संग्राम माँहि श्री हरि ने मारे॥
रुदन करै नित जननि तहाँ नारदमुनि आये।
कमला देखी दुखित दया करि वचन सुनाये।
प्रकटै तेरे उदर तैं, तजो सोच सुत जिही तब।
नाम होहि प्रह्लाद ही, नहीं रूप गुन शील सब॥

भगवान् नित्य हैं, उनकी लीला भी नित्य है, लीला के उपकरण भी नित्य हैं। पार्षद नित्य हैं, अवतार नित्य हैं,।

---

❋ कश्यपजी दिति को वरदान दे रहे हैं कि—तेरे पुत्र का पुत्र विषयों से अलम्पट होगा। वह सुन्दर स्वभाव वाला, सम्पूर्ण गुणों का सागर, दूसरों के सुख में सुखी तथा दुख में दुखी होने वाला और अजात शत्रु होगा। वह ग्रीष्मऋतु के ताप को हरने वाले चन्द्रमा के समान जगत् के शोक को हरने वाला होगा।

अनित्य कुछ नहीं, जो कुछ है सब नित्य हैं। सब शाश्वत है। गुण प्रवाह अनादि है, श्रीहरि खेल रहे हैं, विहार कर रहे हैं, रास रच रहे हैं। इस रास का कभी अन्त नहीं, अवसान नहीं। इसमें प्राचीनता नहीं। नित्य नूतन सा प्रतीत होता है। श्रीहरि कभी ऊबते नहीं। फिर फिर कर वे ही क्रीड़ायें करते हैं। इसमें कोई बात असम्भव नहीं। असम्भव शब्द ही नहीं सभी संभव है; जो लोग यह भ्रम करते हैं ऐसा कैसे हुआ ? वे भूल करते हैं। अरे हुआ कैसे, जो होना होता है वही होगा। जो हो रहा है, वही होना चाहिये। इसमें ऐसे कैसे का प्रश्न ही नहीं।

शौनकजी ने जब शङ्का की कि शिवशर्म्मा के पञ्चम पुत्र सोम शर्म्मा मरकर असुर योनि में प्रह्लाद क्यों हुए ? श्रीहरि ने उन्हें देवासुर संग्राम में क्यों और कैसे मारा ? तब सूतजी बोले—"मुनियो ! संस्कार ही प्रधान होते हैं। जिन दिनों सोमशर्म्मा के पिता अमृत का घड़ा रखकर तीर्थ यात्रा को चले गये थे, उन दिनों वे निरन्तर यही सोचते रहते थे, कि अमृत के लिये देवताओं और दैत्यों में कैसा घोर संग्राम हुआ था ? भगवान् ने असुरों के साथ कैसा अन्याय किया ? मोहिनी रूप रखकर असुरों को अमृत से वञ्चित कर दिया। ये देवता कैसे स्वार्थी होते हैं। जब इन्हें अपना कोई प्रयोजन सिद्ध करना होता है, तब तो कैसी चिकनी चुपड़ी बातें करते हैं, जहाँ प्रयोजन सिद्ध हुआ कि फिर बात भी नहीं करते। मेरा भाई ही जब स्वर्ग में अमृत लेने गया, तो इन्द्र ने उर्वशी अप्सरा भेजकर उनके कार्य में कितना विघ्न किया ? इस प्रकार की बातें वे अमृत के सम्बन्ध में सोचते रहते थे। मनुष्य के विचार ही उसकी प्रार्थना है। जो जैसा निरन्तर सोचना

रहेगा, वैसा ही हो जायगा। इस लोक में मन से जिस स्थिति को प्राप्त करेगा, पर लोक में उसे वही स्थिति प्राप्त होगी। जो यहाँ निरन्तर पाप ही सोचता रहेगा, वह पाप लोकों में जायगा। पुण्य की बातें सोचेगा स्वर्गादि पुण्य लोकों में जायगा। निरन्तर वैकुंठ भगवान् की पूजा अर्चा की बातें सोचता रहेगा, उनके सुमधुर नामों का कीर्तन करता रहेगा, तो वह वैकुंठ लोक को जायगा। भाव ही भव का कारण है भावानुसार ही स्थिति होती है।

जब शिवशर्म्मा इस लोक को त्याग कर वैकुंठ वासी हो गये, तो उनके पंचम पुत्र सोमशर्म्मा परम पुण्य शालग्राम क्षेत्र में जाकर घोर तपस्या करने लगे। तप करते करते उन्होंने बहुत वर्ष बिता दिये। अब उनके मरण का काल आया दैव योग से उसी समय वहाँ असुरों की सेना आगई। वे निरन्तर देवताओं को मारो, काटो, पकड़लो, जाने मत दो, ऐसे भयंकर क्रोधयुक्त शब्दों को कहते रहते थे। कुछ पूर्वजन्म के संस्कारों की बात समझिये, उनका ज्ञान ध्यान, सब भूल गया। कहावत है "अन्ते या मतिः सा गतिः" अन्त में जिनका स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, उसी को जीव प्राप्त होता है। दैत्यों के भय के कारण उनका प्राण दैत्य भाव को प्राप्त हुआ और उसी अवस्था में उनकी मृत्यु हो गई। इसीलिये हिरण्यकशिपु की पत्नी कमला के उदर से इनका जन्म हुआ। पूर्वजन्म के संस्कार तो कहीं जाते नहीं। इस जन्म में भी व बड़े मातृ पितृ भक्त हुए। पिता माता इनके शील, स्वभाव, सदाचार से सदा सन्तुष्ट रहते थे। कालान्तर में बड़े हो गये। उसी समय पुनः देवासुर संग्राम हुआ। ये असुरों की ओर से देवताओं से लड़ने गये। इन्होंने अपने बल पौरुष से देवताओं के दाँत खट्टे

कर दिये। अन्त में विष्णु भगवान् ने अपने चक्र से इनका सिर काट दिया और ये मृत्यु के वशीभूत हो गये।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! पीछे तो आपने बताया है कि प्रह्लादजी बाल्यकाल से ही भगवान् के भक्त थे और कल्पपर्यन्त जीवित रहकर देवता दानवों का आधिपत्य करेंगे। अब आप कहते हैं उन्हें देवासुर संग्राम में भगवान् ने मार दिया, इस बात की संगति कैसे बैठे?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"सुनिये महाराज! मैं इसका भी कारण बताता हूँ। जब प्रह्लादजी भगवान् के हाथ से मारे गये, तो उनकी माता—हिरण्यकशिपु की पत्नी कमला अत्यंत ही दुखित हुई। वे निरन्तर अपने पुत्र के गुणों को तथा सुन्दर स्वभाव और स्वरूप को स्मरण करके रोती ही रहती थीं। वे प्रह्लाद जी से बड़ा प्रेम करती थीं। एक दिन घूमते घामते देवर्षि नारद जी हिरण्यकशिपु के अन्तःपुर में जा पहुँचे। पुत्र शोक से विह्वल हुई कमला को देखकर उन्हें बड़ी दया आयी और उसे अश्वासन देते हुए बोले—"भद्रे! तुम अपने पुत्र के लिये तनिक भी सोच न करो। वह तुम्हारा पुत्र फिर तुम्हारे ही उदर से अभी पैदा होगा। उसका रूप, रंग, स्वभाव सब वैसा ही होगा, उसका नाम भी प्रह्लाद ही होगा। केवल अब के उसमें असुर भाव तनिक भी न रहेगा। वह परम वैष्णव साधु स्वभाव देवता ब्राह्मणों का भक्त, भगवान् का अनन्य उपासक तथा परम यशस्वी होगा। उससे तुम्हारी बड़ी ख्याति होगी।" इस प्रकार समझा बुझाकर देवर्षि नारद ब्रह्मलोक को चले गये। कालान्तर में प्रह्लादजी ने पुनः कमला के गर्भ से जन्म लिया। अब के ये परम शान्त और देवताओं से भी बढ़कर सात्विक स्वभाव के थे। उनमें वे सब ही गुण विद्यमान थे, जिनका उल्लेख

जी ने किया था। ये ही प्रह्लादजी पीछे इन्द्र हुए।

शौनकजी ने यह सुनकर कहा—"सूतजी! आपके कथन में बहुत सी आपस में विरुद्ध बातें हो जाती हैं। पहिले तो आपने हिरण्यकशिपु की स्त्री का नाम कयाधू कहा था अब उसका नाम कमला बता रहे हैं। पीछे कहा था, ब्रह्मादिक देवों ने तथा शुक्राचार्य आदि मुनियों ने मिल कर प्रह्लादजी को दैत्यों के सिंहासन पर अभिषिक्त किया। फिर आप कहते हैं वे इन्द्र हुए। इन सब परस्पर की विरुद्ध बातों की संगति कैसे लगे?"

इस पर सूतजी गंभीर होकर बोले—"महाराज! यह संसार का गुण प्रवाह अनादि है। इसका न कभी अंत है न आदि। ऐसा ही चलता रहता है। बहुत से कीड़े ऐसे होते हैं, हमारे एक दिन में उनमें कई जन्म हो जाते हैं कई बार मरते और जन्म लेते हैं। हम जिसे ८ प्रहर का छोटा सा एक दिन कहते हैं, उनके लिये वह महाप्रलय के समान समय है। हम ३६५ दिनों के समय को एक वर्ष कहते हैं। पितारों के वे दो पक्ष हैं और देवताओं का एक दिन ही है। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग सहस्र बार बीत जाते हैं तो इसी समय १४ इन्द्र, १४ मनु बदल जाते हैं, किन्तु ब्रह्माजी का यह एक ही दिन है। ऐसा दिन जब ३६० बीत जाते हैं तब ब्रह्माजी का एक वर्ष होता है, ऐसे वर्षों से ब्रह्माजी १०० वर्ष पर्यन्त रहते हैं। फिर दूसरे ब्रह्माण्ड की रचना होती है, यह ब्रह्माण्ड विलीन हो जाता है। क्षीरशायी भगवान् की एक स्वाँस में ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है प्रश्वास में ब्रह्माण्ड विलीन हो जाता है। ब्रह्माजी की आयु के १०० वर्ष भगवान् की एक स्वाँस के बराबर है असंख्यों बार सृष्टि हुई हैं असंख्यों बार होगी। इसकी संख्या नहीं, गणना नहीं। कितनी बार प्रह्लाद हुए, कितनी बार नृसिंह भगवान्

प्रकट हुए। कितनी बार सृष्टि हुई, कितनी बार प्रलय हुई। ये सब अगणित संख्यायें हैं। यही समझना चाहिए कि यह सब भगवान् की माया है, उनके लिये असंभव कोई बात नहीं। महाराज इन सब चरित्रों का तात्पर्य यही है, कि सदा सर्वदा श्रीहरि का चिन्तन करना चाहिये। अपने को भगवान् का यन्त्र समझना चाहिये। भगवान् हमें अपनी क्रीड़ा का चाहें जो उपकरण बना लें। हमें सर्वथा उन्हीं की इच्छा पर निर्भर हो जाना चाहिये। संसार में असत्य कुछ नहीं। जो हो रहा है सब सत्य है, क्योंकि स्वयं श्री हरि सत्य हैं उनके सब साधन सर्वदा सत्य ही होंगे। उनकी क्रीड़ा में सत्य ही है। शिव के कार्य अशिव कैसे हो सकते हैं? मंगलमय का विधान अमंगल कैसे हो सकता है। अतः मुनियो! भगवान् और भगवत् चरित्रों को नित्य समझ कर उन्हें श्रद्धा पूर्वक श्रवण करना चाहिये। उनमें कहीं परस्पर में विरुद्ध बातें भी आजायँ, तो उन्हें कल्प भेद समझना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में नृसिंह भगवान् का चरित्र और परम भक्त प्रह्लादजी की भगवद् भक्ति को वृत्त कहा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।

छप्पय

होहिं भागवत परम आसुरी भाव न उनमें।
होवे प्रेम अनन्य सदा श्री हरि चरननि में॥
यों कहि नारद गये नमन प्रह्लाद लयो पुनि।
उदर माँहि शुभ ज्ञान दयो तिनि श्रीनारद मुनि॥
श्री नरहरि को चरित अति, पावन यह मैंने कह्यो।
ऐसे श्री प्रह्लाद ने, जनम असुर कुल महँ लयो॥

# नृसिंह चरित्र की समाप्ति

( ४९७ )

एतद् य आदिपुरुषस्य मृगेन्द्रलीलाम्,
दैतेन्द्रयूथपवधं प्रयतः पठेत ।
दैत्यात्मजस्य च सतां प्रवरस्य पुण्यम्,
श्रुत्वानुभावमकुतोभयमेति लोकम् ॥*
(श्री भा० ७ स्क० १० अ० ४७ श्लो०)

छप्पय

श्रमिं भगवत भक्त, चरित अति मधुर मनोहर।
ज्ञान भक्ति वैराग्य ललित लीला अति सुन्दर॥
नारद बोले धर्मराज ! तुम अति बड़भागी।
सेवैं जिनकूँ सदा भक्त ज्ञानी वैरागी॥
रहैं सदा सेवक सरिस, ते हरि तुम्हरे पास नित।
सम्बन्धी प्रिय सुहृद बनि, रहैं नित्य हित महँ निरत॥

जीवन का मुख्य फल है भगवान् में अनुराग। भक्तों ने भगवान् में अनुराग करके भगवान् से भी उच्च पदवी प्राप्त की

---

*श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन् ! जो मनुष्य आदि पुरुष पुरुषोत्तम श्री नरहरि की लीलाओं को तथा हिरण्यकशिपु और उसके यूथपों के वध की वार्ता को और हिरण्यकशिपु के पुत्र साधु श्रेष्ठ प्रह्लादजी के पवित्र चरित्र को सुनता है और पढ़ता है, वह उनके प्रभाव को सुनने से निर्भय वैकुंठ धाम को प्राप्त होता है।

है। इसीलिए भगवान् ने कहा है "मैं भक्तों के अधीन हूँ।" भगवान् अपनी सेवा से उतने सन्तुष्ट नहीं होते, जितने भक्त की सेवा से सन्तुष्ट होते हैं। भगवान् को प्रसन्न करने के लिए जितने ही उपयोगी भगवत् चरित्र हैं, उतने ही नहीं उनसे भी अधिक उपयोगी हैं भागवत चरित। भक्तों के चरित्र में भगवान् की ही तो कृपालुता भक्त वत्सलता का वर्णन रहता है। अतः सुनने योग्य दो ही चरित्र हैं या तो हरि चरित्र या हरिदासों का चरित्र। दोनों का परस्पर में अन्योन्य सम्बन्ध है। भक्त के बिना भगवान् का चरित्र नहीं और भगवान् के बिना भक्त का चरित्र नहीं। अवतार चरित्रों में भक्त और भगवान् का चरित्र उसी प्रकार गुंफित रहता है, जैसे सूत्र में माला गुंफित रहती है।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! मैंने यह प्रह्लाद जी का चरित्र आपको सुनाया है। इसमें सर्वप्रथम भक्ति का महत्व है, फिर हिरण्यकशिपु ने जो अपने सम्बन्धियों को ज्ञान दिया है उसका वर्णन है। फिर उसकी घोर तपस्या का, विचित्र वरदानों का, दिग्विजय का और त्रैलोक्य के एक मात्र अधीश्वर होने की कथा है। तदनन्तर महाभागवत प्रह्लाद जी के शील स्वभाव का, उनकी भगवद् भक्ति का, गुरु गृह में जाकर पढ़ने का, पिता के सम्मुख भगवद् गुणानुवाद कथन का, इससे क्रुद्ध होकर हिरण्यकशिपु का उन्हें नाना यातना देने का वर्णन किया है, पुनः गुरुपुत्रों के कहने से गुरुगृह में जाकर पढ़ने का दैत्य बालकों को भगवद् भक्ति का उपदेश देने का, इससे क्रुद्ध होकर पिता को उन्हें बुलाने का वृत्तान्त बताया गया है।

प्रह्लाद जी की भक्ति से खम्भ में से भगवान् के प्रकट होने का, दैत्य के वरों की रक्षा करते हुए उसके पेट को फाड़कर मार डालने का, देवताओं की की हुई स्तुति का, प्रह्लाद जी पर की हुई

नृसिंह भगवान् की अनुकम्पा का, उनकी स्तुति से भगवान् का वर याच्या का आमह प्रह्लाद जी द्वारा विद्वेषी पिता की मुक्ति का वरदान माँगना आदि प्रसंगों का वर्णन है। राजन्! प्रह्लाद जी की जैसी भक्ति परम दुर्लभ है। देखिये, भगवान् ने उनके ऊपर कैसे कृपा की ?"

यह सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा—"प्रभो! महाभागवत प्रह्लादजी ही बड़भागी हैं, जिन पर भगवान् ने ऐसी कृपा की जिन्हें गोद में बिठाकर प्यार किया।"

यह सुनकर नारदजी हँस पड़े और बोले—"राजन्! आप प्रह्लादजी की तो सराहना कर रहे हैं, किन्तु अपने सौभाग्य के लिए कुछ नहीं कहते।"

धर्मराज ने मार्मिक वेदना के स्वर में कहा—"अजी, महाराज! अपनी क्या कहूँ, मेरा तो भगवान् के चरणों में चित्त लगता ही नहीं। इन्हीं राज्यपाट, गृह, कोष, सेना आदि की चिन्ता में लगा रहता हूँ।"

नारदजी यह सुनकर हँसते हुए बोले—"अजी, महाराज! संसार में आप से बढ़कर भाग्यशाली और कौन होगा? प्रह्लाद जी को तो भगवान् ने आधे नर और आधे सिंह रूप में अति भयंकर आकृति बनाकर दर्शन दिया, किन्तु आपके पीछे तो वे छैल चिकिनिया बने नव जलधर के समान आभा वाले सौन्दर्य माधुर्य के साकार स्वरूप में घूमते रहते हैं।

प्रह्लादजी को तो क्षण भर दर्शन देकर अन्तर्हित हो गये। आपके तो वे घर में ही सदा निवास करते हैं। प्रह्लादजी के तो ये स्वामी बनकर ही प्रकट हुए थे आपके तो ये श्रीकृष्ण सुहृद, सम्बन्धी, मन्त्री, सखा, सारथी, दूत, सेवक, भृत्य, स्वामी तथा सर्वस्व हैं। आपका छोटे से छोटा बड़े से बड़ा

कोई भी कार्य करने में इन्हें संकोच नहीं होता! आप कहते हैं मुझे घर की चिन्ता है। आपका घर अब घर नहीं रह गया है। यह तो पृथिवीपते! प्रभु के पादपद्मों के पड़ने से परम पावन तीर्थ बन गया है। नहीं तो इतने त्यागी, विरागी, भगवद् भक्त ऋषि मुनि सदा आपके यहाँ क्यों पड़े रहते। क्यों ये आपके द्वार पर धूनी रमाते रहते। राजन्! यह प्रभु पादपद्मों का ही प्रभाव है। जिन मुनियों के दर्शनों से मनुष्य अपने को कृतार्थ करते हैं, वे चारों ओर से दौड़ दौड़ कर उसी प्रकार आपके घर में आते रहते हैं जैसे सर्वत्र से दौड़ कर नदियाँ समुद्र में आती रहती हैं। आपका घर मुक्ति का केन्द्र है। आपसे बढ़कर जगत् में भाग्यशाली दूसरा कौन होगा? जिनको सदा साकार ब्रह्म का साक्षात्कार होता रहता है।"

युधिष्ठिर जी ने पूछा—"भगवन्! ब्रह्म का तो कोई आकार नहीं। वह तो निर्गुण, निराकार, निर्लेप, निरीह है?"

नारदजी ने कहा—"महाराज! यह सत्य है। ब्रह्म निर्गुण निराकार, निर्लेप तथा निरीह है, फिर भी भक्तों पर कृपा करके वह निर्गुण से सगुण हो जाता है, निराकार से साकार स्वरूप धारण कर लेता है। निर्लेप से भक्तों के कार्यों में लिप्त सा दिखायी देता है। निरीह से नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ सा प्रतीत होता है। हे पृथिवीपते! ये जो आपके समीप सजे बजे बैठे हैं ये ही तो साकार ब्रह्म हैं। लाखों वर्ष की समाधि लगाकर योगिजन इन्हीं की तो खोज करते रहते हैं। ये परमानंद स्वरूप हैं, उपाधि से रहित हैं, स्वयं साक्षात् परब्रह्म रूप हैं, आप इन्हें अपने मामा वसुदेव का पुत्र समझते हैं, आप जिनका सबसे अधिक आदर करते हैं, अभी आपने सर्वश्रेष्ठ मानकर

इनकी सर्व प्रथम पूजा की है ये ही जगद्गुरु श्रीकृष्ण सब की आत्मा साकार ब्रह्म हैं। अब बताइये, आपसे बढ़कर भाग्यशाली कौन है ?

गद् गद् कंठ से प्रेम भरित हृदय से, डबडबाई आँखों से भगवान् की ओर निहारते हुए धर्मराज बोले—"भगवन्! मैं इन प्रभु के यथार्थ रूप को नहीं जानता हूँ। अज्ञान के कारण मैं इन्हें अपना सुहृद्, सम्बन्धी, पूज्यतम और गुरु ही समझता हूँ।"

यह सुनकर भक्ति भाव से नारदजी ने कहा—"राजन्! आप जो समझते हैं, वे भी ये हैं और उससे अधिक भी हैं। उससे कितने अधिक हैं, इसे मैं स्वयं नहीं जानता। मैं क्या नहीं जानता स्वयं साक्षात् त्रिपुरारी शंकर नहीं जानते, मेरे पिता पद्मयोनि भगवान ब्रह्मा नहीं जानते। हमारी तो बस, राजन्! यही इन विश्वेश्वर के चरण कमलों में प्रार्थना है कि हम जो कुछ इन्द्रिय दमन, मौन, स्वाध्याय, जप, तप करते हैं उनका फल यही हो, कि ये भक्त प्रतिपालक प्रभु हम पर प्रसन्न हों। ये जिनपर प्रसन्न हो जाते हैं उनके सब दुख दूर हो जाते हैं। मयासुर के कारण संसार के सभी प्राणी तथा शंकरजी भी चिंतित थे, इन्होंने ऐसी युक्ति से काम लिया कि भगवान् रुद्र देव की सर्वत्र ख्याति हुई वे त्रिपुरारी, त्रिपुरातंक कहाये।"

धर्मराज ने कहा—"भगवन्! भगवान् सदाशिव शंकर इन प्रभु की कृपासे त्रिपुरारी कैसे कहाये? इस कथाको मैं सुनना चाहता हूँ, कृपा करके इसे सुनावें।

नारदजी ने कहा—अच्छी बात है राजन! सुनिये मैं इसे सुनाता हूँ।

छप्पय

अज, शिव, ऋषि, मुनि, इन्द्र भेद जिनको नहिँ पावैं ॥
नेति नेति कहि जिन्हें वेद चारों डरि गावैं ।
जप, तप, जोग, विराग, करैं जिन हित मुनि सब तजि ॥
होवैं खल अति विमल नाम जस तस जिनको भजि ॥
निज कैंकर्य कराइ कैं, कृपा करैं करुनायतन ।
दूरि करैं दुख दरश दै, सफल करैं निजजन नयन ॥

## त्रिपुर विजय वृत्तान्त ।

( ४६८ )

एवंविधान्यस्य हरेः स्वमायया
विडम्बमानस्य नृलोकमात्मनः
वीर्याणि गीतान्यृषिभिर्जगद्गुरो—
र्लोकान्पुनानान्यपरं वदामि किम् ॥ॐ
( श्री भा० ७ स्क० १० अ० ७१ श्लो० )

छप्पय

राजन् ! जिन करि त्रिपुर नाश शिव यश विस्तारयो ।
त्रिपुरारी शिव भये असुर मायासुर हारयो ॥
कनक रजत पुर लोह मयासुर तीनि बनाये ।
नभ महँ घूमैं गुप्त दैत्य लखि अति हरषाये ॥
डरे देव शिव ढिंग गये, पशुपति तान्यो निज धनुष ।
हर सर तैं मरि मरि असुर, गिरत तुरत पुर तैं निकस ॥

भगवान् के तीन रूप हैं। जब वे सृष्टि करते हैं ब्रह्मा कह लाते हैं, पालन के समय विष्णु और संहार के समय शिव।

---

ॐ धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कहते हैं—'राजन्! इस प्रकार जगद् गुरु हरि के-जो अपनी माया से स्वयं ही अपने आप मनुष्यों जैसी विडम्बना करते हैं उनके—लोकों को पवित्र करने वाले अनेकों चरित्र ऋषियों द्वारा कहे गये हैं। बताइये, इसके आगे अब मैं आप से क्या कहूँ ?

तीनों में कोई भेद नहीं, कोई अन्तर नहीं, छुटाई बड़ाई नहीं। फिर भी प्रभु लीला के लिये पृथक् पृथक् अनेक रूपों से विचित्र विचित्र क्रीड़ायें करते हैं। कभी स्वयं शिवजी को इष्ट मानकर भी उनकी पूजा करते हैं, कहीं स्वयं इष्ट बनकर उनकी पूजा को ग्रहण करते हैं। कभी छल न करने का उपदेश देते हैं, कभी स्वयं छल बल करके शत्रुओं का संहार करते हैं, उन मायावी की विचित्र माया को कौन समझ सकता है? कौन उसका पार पा सकता है? तीनों यद्यपि उनके ही रूप हैं, किन्तु ब्रह्मा रूप तो कार्य व्यस्त है; उन्हें सृष्टि उत्पन्न करने से काम। यह सृष्टि कैसे भी बढ़े यही उन्हें रात्रि दिन चिन्ता बनी रहती है। त्रिपुरारी तो भोले बाबा ही ठहरे। जिसने जो वर मांगा वही दे दिया, जिसने अनुनय विनय की उसी से कह दिया तू इच्छानुसार वर मांगले। न आगा देखना न पीछा। इसका क्या परिणाम होगा, इसकी भी चिन्ता नहीं। औघड़ दानी ही ठहरे। किन्तु ये चतुर्भुज भगवान बड़े कांइयाँ हैं। ये ऐसी ऐसी तिकड़म भिड़ाते हैं। ऐसी ऐसी अद्भुत माया रचते हैं। इनकी माया अपरम्पार है। इन्हें न कच्छ, मच्छ, सूअर, सिंह बनने में संकोच न कड़े-छड़े पहिनकर घूँघट वाली बहू बनने में लज्जा, जब जैसा समय देखते हैं तब वैसे बन जाते हैं। कहीं धर्म रूप से सॉड़ बन जाते हैं तो कहीं गौरूप धारण कर लेते हैं। बहु रूपिया कृष्ण ही जिनके ऊपर कृपा करें उनके माया का बंधन कैसे रह सकता है। जब मायापति का ही आश्रय ले लिया तो फिर यह बनी ठनी सैन चलाने वाली माया भक्तों का क्या बिगाड़ सकती है।

धर्मराज युधिष्ठिर ने पूछा कि मयासुर किस कारण से विश्वनाथ भोले बाबा के सुयश को नष्ट करना चाहता था और इन कंसहारी कृष्ण ने कैसे उनकी कमनीय कीर्ति को दिग्दिगान्तों

में व्याप्त किया। तो इसपर नारद जी कहने लगे—"राजन्! सुनिये, मैं आपको इस मनोहर कथा को सुनाता हूँ। आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

महाराज! आप जानते ही हैं, इन देवताओं में और असुरों में स्वाभाविक वैर भाव है। वृहस्पति जैसे विज्ञानी ज्ञानी ध्यानी जिनके गुरु हैं वे देवता भी जब वैर को न छोड़ सके, तो इससे यही प्रतीत होता है, कि स्वभाव दुस्त्यज है। भगवान् ने भी बहुत समझाया लड़ाई भिड़ाई ठीक नहीं, किन्तु करें क्या भगवान् ही तो सब को लड़वाते हैं। कभी देवताओं का पक्ष लेकर असुरों को हरा देते हैं कभी असुरों में बल देकर सुरों को परास्त करा देते हैं। दोनों में बल देने वाले ये ही मायापति हैं। हाँ, तो एक बार देवताओं में और असुरों में बड़ा भारी घमासान युद्ध हुआ। दैत्य बड़े साहस और उत्साह के साथ देवताओं से लड़े किन्तु काल उनके अनुकूल नहीं था, वे देवताओं से परास्त हुए। युद्ध में हार कर वे पीठ दिखाकर युद्ध से भाग गये। विजय श्री ने देवताओं को वरण किया। युद्ध में परास्त हुए दैत्यों को बड़ा दुःख हुआ। वे देवताओं को हराने के उपाय सोचने लगे। उन्हीं दिनों मय नामक असुर ने भगवान् की आराधना करके अनेक प्रकार की माया रचने का वरदान प्राप्त किया था। माया रचने में वह अत्यन्त ही प्रवीण था। सभी मुख्य मुख्य असुर मिलकर मयासुर के समीप पहुँचे।

प्रधान प्रधान दैत्यों को अपने समीप आये देखकर मयासुर ने उन सबका स्वागत सत्कार किया और नम्रता के साथ कहने लगा—"सम्माननीय असुरो! आप धन में, पद में, प्रतिष्ठा में सबसे ज्येष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं, आपने इस दीन पर कैसे कृपा की? मेरे योग्य कोई सेवा हो, तो बताइये।"

असुरों ने कहा 'आप शिल्पविद्या में विश्व कर्मा से भी बढ़कर हैं। माया में तो आपके सदृश कोई दूसरा है ही नहीं किन्तु आपकी माया से हम लोगों को क्या लाभ ? जिस विद्या से कुल परिवार वालों का ज्ञाति बन्धुओं का, उत्कर्ष न हो उससे क्या लाभ ?"

मयासुर ने कहा—"असुरो ! आप लोग मुझे आज्ञा दें क्या बात है ? अपनी असुविधा की बात मुझे बताइये।

यह सुनकर असुरों ने कहा—"देखिये ! ये देवता हमें सदा पराजित करते रहते हैं। कोई ऐसी युक्ति निकालो, कि हमतो इनके ऊपर प्रहार करें, किन्तु ये हम पर प्रहार न कर सकें।"

यह सुनकर मयासुर ने कहा—"असुरो ! आप निश्चिन्त हो जायँ, मेरे रहते आप पर कोई भी प्रहार नहीं कर सकता न आपको पराजित ही कर सकता है।"

नारद जी कहते हैं—"राजन् ! यह कहकर मायावियों में श्रेष्ठ मयासुर ने तीन अद्भुत पुर बनाये। उनमें से एक सुवर्ण का पुर था। दूसरा चाँदी का और तीसरा लोहे का। तीनों ही सुन्दर और सुदृढ़ बने हुए थे। तीनों में ही युद्धोपयोगी समस्त अस्त्र शस्त्र आदि उपकरण रखे हुए थे। वे तीनों पुर आकाश में उड़ते रहते थे किसी को दिखाई नहीं देते थे। उनका गमनागमन गुप्त होता था उनमें छिपे हुए असुर सेनापति इन्द्र, वरुण, यम कुबेर आदि लोकपालों की पुरियों में जाकर अस्त्र शस्त्रों की वर्षा करके भाग आते। देवताओं को दिखाई दें तब तो उनका सामना करें। इस माया की गुप्त लड़ाई से देवता अत्यन्त दुखी हुए।

सबने मिलकर एक सभा की। उसमें इसी प्रस्ताव पर बहुत

काल तक वाद विवाद होता रहा, कि ऐसे अवसर पर क्या करना चाहिये ? किसी ने कहा—"ब्रह्माजी के पास चलना चाहिये।

इस पर कुवेरजी ने कहा—"देखो, भाई ! ब्रह्माजी के लिये तो जैसे ही देवता वैसे ही असुर। हम दोनों ही उनके पौत्र हैं, वे युद्ध भी नहीं करते। हमारी तो सम्मति है, सब मिलकर देवाधिदेव महादेव के समीप चलें। वे देवताओं का पक्ष लेते हैं, मेरे ऊपर उनकी बड़ी कृपा है। अयोग्य होने पर भी मुझे वे अपना मित्र मानते हैं।"

यह बात सभी ने सहर्ष स्वीकार की और सब मिलकर कैलाशपति भगवान् भवानीनाथ के समीप कैलाश में गये। भगवान् शम्भु वट वृक्ष के नीचे बैठे सनकादि सिद्धों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दे रहे थे। देवताओं ने जाकर भगवान् शंकर की विधिवत् पूजा करके उनकी स्तुति की। शंकरजी ने प्रसन्न होकर पूछा—"अरे, लोकपालो ! आज तुम किस कारण मेरे पास आये हो ? तुम लोग इतने भयभीत क्यों हो ? किस अभिप्राय से तुम मेरी ऐसी लम्बी चौड़ी स्तुति कर रहे हो। अपने दुःख का कारण मुझे बताओ। मेरे समीप आने से अपने दुःख का अन्त ही समझो।"

शिवजी के ऐसे आश्वासन पूर्ण वचन सुनकर देवता अत्यंत प्रसन्न हुए और बोले—"प्रभो ! आप हमारे स्वामी हैं, रक्षक हैं भयत्राता हैं। आपके सहारे ही हम सदा असुरों को परास्त करते रहे हैं। किन्तु दीनानाथ ! अबके असुरोंने बड़ी माया रची है। अबके न जाने कहाँ से छिपे छिपे वे आकाश मार्ग से बाणों की वर्षा करते हैं। उनके अस्त्र शस्त्र तो हमें क्षति पहुँचाते हैं, किन्तु हम उन्हें देख न सकने के कारण प्रहार ही नहीं कर सकते,

इससे हमारी बड़ी हानि हो रही है, इस संकट से हमें किसी प्रकार बचाइये।"

देवताओं के ऐसे दीन वचन सुनकर दीन दयाल श्री शिवजी उन्हें निर्भय करते हुए बोले—"देवताओ ! डरने का कोई काम नहीं। मैं मयासुर के बनाये उन तीनों पुरों का नाश कर दूँगा। तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो।"

यह कहकर कामारि श्री कैलाशनाथ ने अपना दिव्य धनुष उठाया और बाणों को पाशुपतास्त्र से अभिमंत्रित करके ज्यों ही मय के रचे त्रिपुरों के उद्देश से उन्हें आकाश में छोड़ा, त्यों ही वे उसी प्रकार एक से अनेक हो गये जिस प्रकार एक सूर्य से अनेक किरणें निकलने लगती हैं। उन बाणों का जहाँ उन पुरों में रहने वाले असुरों के शरीर से स्पर्श हुआ, तहाँ वे पके फल के समान निष्प्राण होकर धड़ाम धड़ाम पृथिवी पर गिरने लगे।"

मयासुर ने देखा, शिवजी ने तो मेरी सभी माया व्यर्थ कर दी। वह भी बड़ा बुद्धिमान था। उसने पहिले ही एक पुर में अमृत का कूप बना रखा था। जो दैत्य मरता उसे उठाकर अमृत के कूप में डालता जाता। ज्योंही अमृत से उनका स्पर्श होता, त्योंही वे सबके सब जीवित हो उठते। इस प्रकार उसमें रहने वाले असुरों का अन्त ही नहीं होता था। शिवजी ने एक बार देखा, दो बार देखा। वे चक्कर में पड़ गये। अभी तो ये असुर मरकर गिर गये थे, अभी अभी ये फिर कैसे जीवित हो गये ? फिर सोचा, संभव है एक सी आकृति होने से मुझे भ्रम हो गया हो। फिर सहस्रों को मारकर गिराया। दूसरे ही क्षण वे उस सिद्ध अमृत के संस्पर्श से वज्र के समान सुदृढ़ शरीर वाले तथा अत्यंत तेजस्वी होकर सम्मुख खड़े हैं। वे आकाश में इसी प्रकार चमचमाते हुए दिखाई देने लगे

जैसे मेघ माला के बीच से बिजली। शिवजी ने समझ लिया यह तो कुछ दाल में काला है। ध्यान लगाकर जो उन्होंने देखा, तो समझ गये, अरे! यह तो अमृत कूप का फल है। अब शिव जी क्या करें। उन्हें बड़ी चिन्ता हुई, देवता भी आपस में काना फूँसी करने लगे। कोई कहता—"शिवजी तो कभी भी पराजित नहीं हुए थे। इन असुरों की माया से ये भी भग्न संकल्प से दिखाई देते हैं। शिव जी मारे संकोच के कुछ कहते नहीं थे। निरन्तर बाणों की वर्षा कर रहे थे, किन्तु उनके बाण लक्ष भेदन करने पर भी व्यर्थ से हो रहे थे। अब तो शिवजी ने मन ही मन मायामहेश्वर भगवान् वासुदेव का स्मरण किया। हरिस्मृति तो सर्वविपद् विमोचणी होती ही है। भगवान् ने तुरन्त ब्रह्मा जी को बुलाया और उनसे बोले— "ब्रह्माजी! मैं तो गौ बनूँगा।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अजी, महाराज! गौ क्यों बनते हो, यह आपके अनुरूप नहीं। गौ वेप तो अबला पृथिवी धारण करती है। यदि बनना ही है तो साँड़ बनो।"

भगवान् ने कहा—"नहीं भैया, हमारे तो सभी अनुरूप हैं। जो रूप हम धारण करलें वही उचित है। स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी सभी हमारे ही रूप हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"जैसे महाराज! आपकी इच्छा। फिर मेरे लिये क्या आज्ञा है।"

भगवान् ने कहा—"तुम बछड़ा बन जाओ। ब्रह्माजीने हँस-कर कहा—"महाराज! मैं तो आपका बछड़ा हूँ ही। चाहे जिसका बछड़ा बना लो।"

भगवान् ने शीघ्रता के साथ कहा—"अच्छी बात है, देखो अब शीघ्रता करो। शिवजी बड़े घबड़ा रहे हैं उनका चित्त बड़ा

उद्विग्न हो रहा है।" यह कहकर भगवान् बड़ी सुन्दर गौ बन

गये। ब्रह्माजी को तो बछड़ा बनना ही था। अपनी माया से

वे तुरन्त मयासुर के उस पुर में पहुँच गये जहाँ अमृत का बड़ा भारी कूप के समान सर था। दैत्यों ने देखा, यह इतनी सुन्दर गौ कहाँ से आगई। गौ बड़ी प्यासी दिखाई देती थी। वह अपनी मन्द मन्द मन्थर गति से अमृत कुंड की ओर जा रही थी, उसका बछड़ा भी किलोल करता हुआ उसके पीछे पीछे दौड़ रहा था। जाकर गौ ने अमृत के कुंड में मुँह डाल दिया। छिपकर नहीं, सबके देखते देखते अमृत पीने लगे। पानी पीती हुई गौ को रोकना यह बड़ा अधर्म है। भगवान् की माया से मोहित होने के कारण असुर श्री हरि का यथार्थ रूप तो समझ नहीं सके। सबने कहा—"पी लेने दो प्यासी गौ है।" परन्तु उन्हें पता नहीं था, यह साधारण प्यासी गऊ न थी। जो घूँट मारा और चुसकी के साथ अमृत पान आरम्भ किया, सो सबको चढ़ा गई। एक बूँद भी अमृत उसमें शेप न रहा। इतने में ही मयासुर आगया और बोला—"अरे, तुम लोगों ने यह क्या किया ?"

रक्षक असुरों ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! प्यासी गौ थी, हमने समझा इसे निवारण करना उचित नहीं। थोड़ा अमृत पी ही लेगी तो क्या हो जायगा।"

हँसकर मयासुर ने कहा—"यह साधारण गौ नहीं है। अमृत कुंड की तो बात ही क्या यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को पी जाती है। सबको अपने उदर में रख लेती है।

दुखी हुए दैत्यों ने कहा—"अजी, हम तो ठगे गये, अब क्या करें। यह तो बहुत ही बुरा हुआ।

सुख दुख में सम रहने वाला महायोगी मय हँसकर बोला—"अजी, काहे का दुख, कैसा सुख, भगवान् के विधान को अन्यथा करने की सामर्थ्य किसमें है ? वे प्रभु जो करना चाहते

हैं वही होता है। जीव अपने बचाव के अनेकों उपाय करता है, विविध भाँति से सुरक्षित और अजर होना चाहता है। किन्तु जीव का विधान सफल नहीं होता। भगवान् जो करना चाहते हैं, वही होता है। उनके विधान को अन्यथा करने की समर्थ्य किसमें है?

इस पर दैत्यों ने कहा "आप तो बड़े मायावी हैं, अपनी माया से और भी ऐसे अनेकों अमृत कूप बना सकते हैं, दूसरा कोई उत्तम उपाय कर सकते हैं। आप इस विधान को व्यर्थ बनाकर इससे उत्तम और कोई सुरक्षित पुरों का निर्माण कर सकते हैं।"

मयने कहा "असुरो! तुम जो कुछ कह रहे हो सब सत्य है, किन्तु ये हरि मुझसे भी माया में श्रेष्ठ हैं। ये तो माया के स्वामी ही हैं, मैं तो उस माया समुद्र में से इतनी सी ही माया जानता हूँ जैसे एकार्णव समुद्र में से एक नन्हीं सी बूँद। अपने लिये दूसरों के किये अथवा दोनों के लिये विधाता ने जैसे विधान बना दिया है, उसे व्यर्थ बनाने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है, किसी अन्य असुर में नहीं है, देवताओं में नहीं है, ब्रह्माजी में नहीं है, फिर यक्ष गन्धर्व, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि इनके बनाये जीवों की तो बात क्या है।"

श्री नारदजी कहते हैं—"राजन्! ऐसा कह कर दैवगति को ही प्रधान मानकर मयासुर ने शोक नहीं किया। वह भगवान् के विधान को समझ कर उदासीन हो गया। अब तो असुर निरुपाय हो गये। फिर भी वे भागे नहीं। वे सब शिवजी से युद्ध करने की घनघोर तैयारियाँ करने लगे।

### छप्पय

मरें असुर जे तिन्हें वेगि मायासुर लावे।
अमृत कुन्ड महँ डारि सबनि कूँ तुरत जिवावे॥
त्रिपुरारी मय सिद्धि निरखि अतिशय घबराये।
मायापति की शरन शम्भु मन ही मन आये॥
कामधेनु श्री हरि बने, विधि बनाइ बछरा लये।
अमृत कुन्ड के जाइ ढिँग, पान अमृत सब करि गये॥

# शिवजी द्वारा त्रिपुर दाह

( ४६६ )

धर्मज्ञान विरक्त्यृद्धि तपोविद्याक्रियादिभिः,
रथं सूतं ध्वजं वाहन्धनुर्वर्म शरादियत् ।
सन्नद्धो रथमास्थाय शरं धनुरुपाददे,
शरंधनुषि संधाय मुहूर्तेऽभिजितीश्वरः ॥*
( श्री भा० ७ स्क० १० अ० ६६, ६७, श्लो० )

छप्पय

फिरि हरि हर ढिँग आइ धरम रथ दिव्य बनायो ।
ज्ञान सारथी करयो धनुष पत तीव्र सुहायो ॥
ध्वजा विरक्ति बनाय अश्व ऐश्वर्य लगायो ।
धारयो विद्या कवच किया के बाण चढ़ाये ॥
अस रथ पर चढ़ि सदाशिव, प्रभु सुमिरत आगे बढ़े ।
बाण धनुष पै धारि कैं, त्रिपुर निवासिनि तैं भिड़े ॥

मन ही मयासुर है । सत्व, रज, तम ही त्रिपुर हैं, दुर्गुण ही

---

* श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! भगवान् ने शिवजी के निमित्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, विद्या और क्रिया आदि शक्तियों से रथ, सारथी, ध्वजा, अश्व, कवच और बाण आदि की रचना की । उस दिव्य रथ में बैठ कर तत्पर होकर हाथ में धनुष-बाण लेकर तथा उस धनुष पर बाण चढ़ाकर अभिजित मुहूर्त में उन तीनों दुर्भेद्य पुरों को जला दिया ।"

दैत्य हैं, सद्गुण ही सुर हैं। दुर्गुण जब तीनों गुणों के प्रभाव से विशेषकर रज और तम के आवेश में सत् गुणों को दबाते हैं, तब विवेक रूप शिव की शरण में जाते हैं; जिससे वे वैराग्य रूप धनुष को लेकर विजय करना चाहते हैं। किन्तु त्याग रूप हरि के बिना वैराग्य अकेला क्या कर सकता है। त्याग के द्वारा तृष्णा रूपी सुधा के सर को सोखा जा सकता है। तृष्णा ही ऐसी है, जो वासनाओं को पुनः पुनः जीवित करती रहती है। वासना क्षय हो जाने पर तृष्णा के नाश होने पर वैराग्य रूप धनुष में ज्ञान रूप बाण चढ़ाकर लक्ष्य भेदन करे तो तीनों पुरों का दाह हो जाता है; जीव त्रिगुणातीत होकर शिव स्वरूप हो जाता है। यही त्रिपुर दाह का आध्यात्मिक अर्थ है। यथार्थ अमृतत्व की प्राप्ति त्याग के ही द्वारा संभव है।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! जब मयासुर के रचित अमृत कुन्ड को श्री हरि पान कर गये, तब वे शिवजी के समीप आये और आकर बोले—"हे देवाधिदेव महादेव! अब आप दिव्य रथ निर्माण करके असुरों को जीत लें। अब आपकी विजय निश्चित है।"

भगवान् के ऐसे वाक्य सुनकर शिवजी ने उनका अभिनन्दन किया और धर्म का एक रथ बनाया। जिसमें ज्ञान को सारथी के स्थान पर बिठाया। वैराग्य की सुन्दर सुहावनी ध्वजा लगाई। ऐश्वर्य के अश्व जोड़े। तप को ही धनुष बनाया विद्यारूप कवच को धारण करके क्रियारूप बाण को धनुष पर चढ़ाया। इस प्रकार युद्ध की सामग्री से सुसज्जित होकर वे त्रिपुर विनाश के निमित्त चले। यह तो शिवजी के आध्यात्मिक रथ का वर्णन है। कहीं कहीं ऐसा वर्णन है कि इस ससागरा समस्त वसुन्धरा को ही रथ बनाया। सूर्य और चन्द्रमा को रथ

के पहिये। नागराज भगवान् शेष को रथ की धुरी बनाया। इलापत्र और पुष्पदन्त इन दोनों नागों को जूए के अन्त का बन्धन और मलयाचल को रथ का जूआ बनाया। तक्षक को तीन लकड़कियों वाले जूए को बाँधने की रस्सी, गन्ध मादन और विन्ध्याचल को रथ के दोनों ओर की छोटी ध्वजायें तथा समस्त प्राणियों को रथ की रासें बनाईं। ऋक्, यजु, साम और अथर्व ये चारों वेद ही उस रथ के चार घोड़े थे। उपनिषदें उन घोड़ों की लगाम थीं। ओंकार को तीव्र चाबुक बनाया और गायत्री सावित्री को डोरी। ब्रह्माजी से कहा—"आप इस रथ को हाँकिये। सीदे सादे ब्रह्माजी उस ससागर वसुधा रूप दिव्य रथ को सारथी के स्थान पर बैठकर हाँकने लगे। शिवजी उस रथ मे विराजमान हो गये। मन्दराचल को गांडीव धनुष बनाया, वासुकी नाग को धनुष की ज्यो-डोरी के स्थान में लपेटा। स्वयं साक्षात् विष्णु को बाण बनाया। अग्नि को बाण के आगे का फलक तथा वायु के दोनों पंख बनाये। यम को बाण की पुच्छ विद्युत् को बाण की धार और मेरु को रथ की ध्वजा के स्थान में लगाया। ऐसे दिव्य और असाधारण रथ पर चढ़ कर शिवजी त्रिपुर विनाश के लिये चले।

उन तीनों पुरों को ब्रह्मा जी का वरदान था कि वे तीनों पृथक् पृथक् नाश नहीं हो सकते। वे, आकाश में पृथक् पृथक् घूमा करते थे। हजार वर्ष में एक बार वे मिलते थे, फिर पृथक् हो जाते थे। इसीलिये शिवजी अपने दिव्य रथ में बैठकर हजार वर्ष तक तपस्या करते रहे। जब वे तीनों आपस में मिले तो उसी मुहूर्त में शिवजी ने अपने दिव्य बाणों से उन विचित्र पुरों को जलाकर भस्म कर दिया जो अजेय कहलाते थे, उन्हें जीत

लिया, जो दुर्भेद्य बताये जाते थे, उनका भेदन किया। जो दुराधर्ष कहलाते थे उनका धर्षन किया।"

नारद जी कहते हैं—"राजन! उन विचित्र दुर्धर्षपुरों को जीतने के कारण ही शिव जी के त्रिपुरान्तक, त्रिपुरारि, त्रिपुरविनाशक आदि नाम पड़े। उनके इस अद्भुत कर्म को देखकर समस्त देवता, पितर, ऋषि, मुनि, यक्ष, गन्धर्व गुह्यक, किन्नर किंपुरुष तथा सिद्ध गण आदि अत्यन्त प्रसन्न हुए। हर्ष के कारण सभी जय जय, नमो नमः, साधु साधु आदि करने लगे। देवाङ्गनायें नन्दन कानन के कमनीय पुष्पों की वर्षा करने लगीं, अप्सरायें नाचने लगीं और गन्धर्व गण गाने लगे। इस प्रकार भगवान् की कृपा से ही शिव जी की कीर्ति संसार में अक्षय हो गयी। उसे भगवान् ने अपने भक्त प्रह्लाद को भी दुखी देखकर, उसके वचनों को सत्य करने के निमित्त खम्भ में से अवतार लिया, भक्त के दुखों को दूर किया और देवताओं को अपने दर्शनों से कृतार्थ किया।"

इस प्रकार राजन! यह मैंने अत्यंत संक्षेप में प्रह्लाद जी का चरित्र सुनाया, अब आप मुझसे और क्या पूछना चाहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारद और धर्मराज के सम्वाद को सुनकर महाराज परीक्षित् अत्यंत ही हर्षित हुए। फिर उन्होंने ब्रह्मपुत्र नारद जी से और भी अनेक प्रश्न पूछे।"

इस पर शौनक जी ने कहा—'सूतजी! हम इस धर्मराज नारद सम्वाद को सुनकर अत्यंत ही हर्षित हुए। महाभाग! जहाँ साक्षात् धर्म की मूर्ति युधिष्ठिर पूछने वाले हों और भगवान् के अवतार-भूत, भविष्य, वर्तमान की सब बातें जानने वाले

नारद जी उत्तर देने वाले हों, उस सम्वाद के सम्बन्ध में कुछ कहना तो व्यर्थ ही है। अब हम यह जानना चाहते हैं कि धर्मराज युधिष्ठिर ने प्रह्लाद जी के पावन चरित्र श्रवण करने के अनन्तर देवर्षि भगवान नारद जी से क्या क्या प्रश्न किये और नारदजी ने उनका क्या क्या उत्तर दिया ? इस बात को हमें और सुनाइये। इस सम्वाद को सुनते सुनते तो हमारी तृप्ति ही नहीं होती।

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो ! आप धन्य हैं, जो कथा श्रवण से ऊबते नहीं। प्रत्युत प्रतिक्षण नवीन उत्साह के साथ श्रवण करने को व्यग्र बने रहते हैं। अब जो धर्मराज युधिष्ठिर के पूछने पर नारद जी ने उपदेश दिया था, उसका अत्यन्त ही संक्षेप में आपको मैं दिग्दर्शन कराऊँगा, उसे आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

कीन्हीं त्रिपुर विनाश भये त्रिपुरारी शङ्कर।
ऋषि, मुनि, सुर, गन्धर्व कहैं जयशङ्कर शिवहर॥
सबको यश विस्तार करैं ये ही श्री नरहरि।
करे पूज्य प्रह्लाद हिरनकशिपू को वध करि॥
नारद जी के वचन सुनि, धर्मराज प्रमुदित भये।
पुनि वर्णाश्रम धर्म कूँ, मुनिवर तैं पूछत भये॥

# धर्मराज नारद सम्वाद की समाप्ति

( ५०० )

इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः,
पूजयामास सुप्रीतः कृष्णं च प्रेमविह्वलः ।
कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य पूजितः प्रययौ मुनिः,
श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः ॥❀
( श्री भा० ७ स्क० १५ अ० ७८, ७९ श्लो० )

छप्पय

चारि वरन के धर्म देवऋषि पृथक् बताये ।
कौन कौन कस कर्म करे कहि सब समुझाये ॥
पुनि नारिनि के धर्म कहे मुनि सहमी शारद ।
ब्रह्मचर्य व्रत गृही धर्म भाखे सब नारद ॥
वानप्रस्थ सन्यास के, पृथक् पृथक् लक्षण कहे ।
धर्मराज नारद निकट, यदुनन्दन बैठे रहे ॥

सनातन वैदिक धर्म को वर्णाश्रम धर्म भी कहते हैं, क्योंकि

---

❀ श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! भरतवंश में श्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर नारदजी के द्वारा कहे गये इस संवाद को सुनकर प्रेम में अत्यन्त विह्वल होकर उन्होंने श्री कृष्ण भगवान् की तथा नारदजी की पूजा की । फिर धर्मराज से तथा कृष्ण भगवान् से अनुमति लेकर तथा उनके द्वारा पूजित होकर नारदजी इच्छानुसार चले गये । धर्मराज श्री कृष्ण भगवान् को "साक्षात् परब्रह्म हैं" ऐसा सुनकर परम विस्मित हुए ।"

वैदिक धर्म की भित्ति वर्णाश्रम धर्म पर ही अवलम्बित है। जहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं वहाँ आर्य धर्म नहीं। वह तो म्लेच्छ, अनार्य धर्म है। यद्यपि गुणकर्म स्वाभावानुसार चातुर्वर्ण की सृष्टि स्वयं श्रीहरि ने ही की है, इसीलिये यह अनादि है। फिर भी घोर सत्व में—आदि सत्ययुग में—तथा घोर तम में कलियुग के अंत में—वर्णाश्रम धर्म प्रायः नहीं रहता। घोर सत्व में तो सभी धर्म परायण सत्यवादी और दम्भ ईर्ष्या से रहित होते हैं, अतः वहाँ वर्णाश्रम धर्म की आवश्यकता ही नहीं और घोर कलिकाल आ जाने पर सबकी बुद्धि तमोगुण से व्याप्त हो जाती है। उस समय वे तमोगुण की प्रधानता वाले मूढ़ लोग अधर्म को ही धर्म मानने लगते हैं। वर्णाश्रम धर्म को ही उन्नति में बाधक समझते हैं। वर्ण भेद को ही वे अवनति का मूल कारण समझकर उसके विनाश की चेष्टा करते हैं। सत्वगुण का प्रकाश न रहने से सबकी बुद्धि तमोगुण से आवृत हो जाती है। इसीलिये वर्णाश्रम धर्म छिन्न भिन्न हो जाता है। शेष सभी युगों में वर्णाश्रम धर्म की प्रधानता रहती है, इसीलिये हमारे यहाँ वर्णाश्रम धर्म श्रवण करने का अनन्त महात्म्य है। नित्य नित्य वर्णाश्रम धर्म को श्रवण करना चाहिए। हमारे यहाँ कोई ऐसी कथा नहीं, वार्ता नहीं, शास्त्र नहीं, पुराण नहीं जिनमें वर्णाश्रम धर्म का वर्णन न हो। कोई भी कथा, कोई भी वार्ता तब तक पूर्ण नहीं मानी जाती, जब तक उसमें वर्णाश्रम धर्म की चर्चा न हो।

महाराज परीक्षित् श्री शुकदेव जी से पूछते हैं—"भगवन्! धर्मराज युधिष्ठिर ने प्रह्लाद चरित्र सुनने के अनन्तर आपके पिता भगवान् व्यास के गुरु श्री नारद जी से और क्या क्या प्रश्न किये। कृपा करके उन्हें आप मुझे और सुनावें।"

यह सुनकर श्री शुक बोले—"राजन ! जब नृसिंह भगवान् का चरित्र समाप्त हो गया तब धर्मराज ने नारद जी से पूछा "प्रभो ! मैं सनातन वैदिक वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था सुनना चाहता हूँ। किस वर्ण का किस आश्रम का क्या क्या धर्म है, इसे आप मुझे बतावें।"

नारद जी ने कहा—"राजन् ! तुम हम से ही यह सब क्यों पूछना चाहते हो ?"

इस पर धर्मराज बोले—"महाराज ! और कौन इस विषय को भलीभाँति जान सकता है। सब धर्मों के प्रवर्तक लोक पितामह ब्रह्मा जी ही हैं, आप उनके मानसिक पुत्र हैं। साधारण पुत्र ही नहीं तपस्या, योग तथा समाधि की उत्तमता के कारण उनके सर्वश्रेष्ठ पुत्र हैं। आपका सभी श्रेणी के लोग समानभाव से आदर सत्कार करते हैं। आप भगवद्भक्त हैं, प्रभुपरायण हैं, दयालु हैं, सदाचारी हैं, बाल ब्रह्मचारी हैं, शांत स्वभाव और गुह्यज्ञान के ज्ञाता हैं, वर्णाश्रम धर्म के रहस्य को जितना आप जानते हैं, उतना दूसरा कोई नहीं जान सकता।"

इस पर नारद जी ने कहा—"अच्छी बात है, राजन् ! मैं आपको स्वयं साक्षात् भगवान् के मुख से सुने हुए वर्णाश्रम धर्म के रहस्य को बताता हूँ।"

इस पर धर्मराज ने कहा—"महाराज ! आपने भगवान् के मुख से कहाँ सुना था यह धर्म ?"

धर्मराज के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए नारदजी बोले—"राजन् ! धर्म की १३ पत्नियों में से एक मूर्ति देवी भी हैं, उन्हीं से भगवान् ने नर नारायण का अवतार धारण किया। वे दोनों बदरिकाश्रम में जाकर घोर तपस्या में निरत रहते हैं। उन्हीं के चरणों में बैठकर मैंने वर्णाश्रम धर्म सुना था,

उसे ही उन नर नारायण भगवान् को नमस्कार करके मैं इन धर्मों को सुनाता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह कह कर भगवान् नारद मुनि ने सबसे पहिले तो मनुष्यमात्र के धर्म बताये। किसी वर्ण, किसी जाति, किसी देश, किसी धर्म, किसी भी सम्प्रदाय का मनुष्य क्यों न हो, उन सबको इन ३० लक्षण वाले धर्म का पालन करना चाहिये, वे ३० ये हैं:—१—सत्य बोलना २—प्राणिमात्र पर दया रखना ३—यथाशक्ति तप करते रहना ४—पवित्रता से वर्ताव करना ५—सहन शीलता रखना ६—युक्तायुक्त का विचार करते रहना। ७—मानसिक शान्ति बनाये रखना, ८—इन्द्रियों का दमन करना ९—किसी भी प्राणी की यथासाध्य हिंसा न करना १०—ब्रह्मचर्य व्रत का यथा स्थिति में पालन करना ११—त्याग की भावना बनाये रहना १२—सबके साथ सरलता का व्यवहार रखना १४—सन्तोष धारण करते रहना १५—समदर्शी भगवद्भक्त महात्माओं की यथाशक्ति सेवा करते रहना १६—अभ्यास द्वारा सांसारिक भोगों की चेष्टा से निवृत्त होना १७—मनुष्यकृत प्रयत्नों का प्रायः विपरीत ही फल देखने में आता है इसका विचार करते रहना। १८—अपनी वाणी पर संयम रखना १९—आत्म-चिन्तन करते रहना २०—यथाशक्ति प्राणियों को अन्न का विभाजन करके भोजन करना २१—समस्त प्राणियों में प्रभु को देखना, नहीं तो मनुष्य मात्र को तो उन्हीं प्रभु का पुत्र मान कर भ्रातृ भाव का वर्ताव करना २२—भगवान् के गुणों का श्रवण करना २३—उनके नाम और यश का कीर्तन करना २४—भगवान् के रूप का स्मरण करना २५—भगवत् सेवा में सदा तत्पर रहना, २६—प्रभु पूजा में प्रेम रखना २७—

भगवान् को, भगवत् भक्तों को नम्रता पूर्वक नमस्कार करे २८—अपने को भगवान् का दास समझना २९—भगवान् को अपना सखा, सुहृद् समझना ३०—और अपने आपको भगवान् के समर्पित कर देना। इन तीस प्रकार के नियमों का आचार मनुष्य मात्र के लिये कल्याणप्रद है। इनके पालन करने से सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न हो जाते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं। अध्ययन, अध्यापन, दान लेना, दान देना, यज्ञ करना और यज्ञ कराना ये ६ कर्म ब्राह्मण के हैं। क्षत्रिय के अध्ययन, दान देना, यज्ञ करना और प्रजा का पुत्रवत् पालन करना और उससे दण्ड कर आदि लेकर वृत्ति चलाना ये ही धर्म कहे गये हैं। वैश्यों के लिये अध्ययन, दान देना, यज्ञ करना, ब्राह्मण क्षत्रियों के अनुकूल वर्ताव करना, कृषि गोरक्षा और वाणिज्य द्वारा वृत्ति चलाना यही परम धर्म है। शूद्रों के द्विजों की श्रद्धा पूर्वक सेवा करना यही परम धर्म है। उन्हें अपने स्वामियों से आजीविका मिलनी चाहिये।

शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, भगवत् परायणता और सत्याचरण ये ही ब्राह्मणों के लक्षण हैं। ब्राह्मणों में ये गुण स्वभाव से होते हैं। शूरवीरता, पुरुषार्थ, धैर्य, तेजस्विता, त्याग, मनोजय, क्षमा, ब्राह्मणों के प्रति भक्ति भाव, अनुग्रह और प्रजा की रक्षा करना ये क्षत्रियों के लक्षण हैं। देवता, गुरु तथा भगवान् में भक्ति रखना। धर्म अर्थ और काम की पुष्टि करना आस्तिकता, नित्य ही व्यापार और उद्योग करते रहना। व्यवहार में कुशलता ये वैश्यों के लक्षण हैं। उच्च वर्णों के प्रति विनम्र रहना, पवित्रता, निष्कपट भाव

स्वामी की सेवा, पौराणिक मन्त्रों से यज्ञादि करना, सत्य बोलना चोरी न करना, अपने पुरुषार्थ से गौ ब्राह्मणों की रक्षा करते रहना ये शूद्रों के धर्म हैं। पति की सदा सेवा में तत्पर रहना, उनके प्रति सदा आदर भाव रखकर प्रेम का वर्ताव रखना किसी से द्वेष भाव, लड़ाई, झगड़ा न करना यही स्त्रियों के प्रधान धर्म हैं। उनका मुख्य धर्म है पतिप्राणा होना। शूद्रेतर लोगों के वे ही धर्म हैं जो वंश परम्परा से चले आ रहे हों। चोरी हिंसा को छोड़कर। यह नहीं कि हमारे पिता चोरी करते हैं, वध करते थे तो हम भी करें। ये यदि पैतृक कार्य हों भी तो इन्हें छोड़ देना चाहिये। पिता आदि नाटकों में स्त्री आदि बनते हों, तो ऐसे पैतृक धंधे को छोड़ने में कोई दोष नहीं। इसके अतिरिक्त जो भी पैतृक कार्य हो उन्हें करते ही रहना परम धर्म है।

ये तो संक्षेप में वर्णधर्म हुए अब आश्रमों के भी धर्म सुनें। ब्रह्मचारी के मुख्य धर्म हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करना, अग्नि और देवों, गुरु की सेवा करना तथा अध्ययन में निरन्तर निरत रहना। गृहस्थ का धर्म है, बाँट कर खाना, देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण इन तीनों ऋणों से उऋण होना, सन्ध्या, तर्पण, अग्निहोत्र, पंच महायज्ञों को करना। याचक को यथा शक्ति अन्न देना। यथा शक्ति देवता पितरों के निमित्त यज्ञ करते रहना। वाणप्रस्थ का मुख्य धर्म है, घोर तपस्या में निरत रहना, वन में रह कर कन्द, मूल, फलों पर निर्वाह करना, शरीर को सुखाते रहना, जाड़े में गीले कपड़े पहिन कर गरमी में पंचाग्नि तापकर, वर्षा में सम्पूर्ण वर्षा को सिर पर ही विताना, इस प्रकार की तपस्या में लगे रहना। अग्निहोत्र को न छोड़ना। जब वृद्धावस्था आ जाय ज्ञान हो जाय तो फिर सन्यास का धारण कर लेना। प्राणिमात्र को अपने से अभय कर देना किसी

का भी संग्रह न करना, निरन्तर ध्यान में निमग्न रहना। जगत के सुखों को सर्वदा मिथ्या समझते रहना। किसी से वाद विवाद न करना, किसी के पक्ष को लेकर वितंडा बातें न करना ये ही सन्यासी के प्रधान लक्षण हैं। अवधूत को न दुःख होता है न शोक। वह निर्द्वंद, निर्मल होकर जगत् में बालवत् विचरता रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! भगवान् नारदजी ने तो इस विषय को बहुत विस्तार के सहित बताया था, किन्तु मैंने उसका केवल अत्यंत संक्षेप में सारांश मात्र कह दिया है। यहाँ कथा प्रसङ्ग में इसका विस्तार करने लगूँ तो कथा का प्रवाह ही रुक जायगा। अतः यहाँ तो मैंने केवल दिग्दर्शन मात्र ही करा दिया है। प्रभु इच्छा हुई तो अन्य प्रसंग में इसका मैं विस्तार के साथ वर्णन करूँगा। सो, मुनियो! इस प्रकार देवर्षि भगवान् नारदजी ने धर्मराज युधिष्ठिर के सब प्रश्नों का उत्तर दिया। तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर ने बड़ी भक्ति भाव से नारदजी की पूजा की। पास में ही बैठे हुए देवकी नन्दन की भी उन्होंने फिर से पूजा की। इस प्रकार नारदजी धर्मराज से भली भाँति सत्कृत हुए। अब उन्होंने अपनी स्वरब्रह्म विभूषिता वीणा उठाई। भगवान् को प्रणाम किया और राम कृष्ण हरि की रट लगाते हुए वहाँ से सबके देखते ही देखते आकाश मार्ग से ब्रह्म लोक को चले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह धर्मराज-नारद सम्वाद परम पवित्र है, यश और कीर्ति को बढ़ाने वाला है। जो इसे श्रद्धा पूर्वक सुनेंगे, पढ़ेंगे, उनके मनोवांछित फल अवश्य प्राप्त होंगे। इस लोक में सुख शांति पूर्वक सभी सुखों को भोगेंगे। मरने पर सद्गति को प्राप्त होंगे। मुनियो! यह मैंने आपसे

धर्मराज नारद सम्वाद कहा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

छप्पय

यह प्रसङ्ग अति धन्य पुण्यप्रद परम सुहावन।
धर्म वृद्धि नित करै मोक्षप्रद अतिशय पावन॥
भक्ति सहित नर नारि बाइ जे सुनें सुनावें।
जग बन्धन तैं छूटि मोक्ष की पदवी पावें॥
धर्मराज प्रति देवऋषि, कह्यो सुखद सम्वाद अति।
श्रवन मनन तैं अवसिही, हरि चरननि महँ होहि रति॥

# मन्वन्तरावतारों की कथा

( ५०१ )

स्वायम्भुवस्येह गुरो वंशोऽयं विस्तराच्छ्रुतः,
यत्र विश्वसृजां सर्गो मनूनन्यान्वदस्व नः।
यत्र यत्र हरेर्जन्म कर्माणि च महीयसः,
गृणन्ति कवयो ब्रह्मंस्तानिनो वद शृण्वताम् ॥*
(श्री भा० ८ स्क० १ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

कहँ परीक्षित् प्रभो प्रथम मनुवंश सुनायो।
मनुपुत्रिनि पति भये प्रजापति, सर्ग बढ़ायो॥
अन्य मनुनि को वंश कृपाकरि और सुनावें।
भये कौन अवतार कर्म गुन नाम गिनावें॥
शुक बोले--जा कल्प महँ, छै मनु बीते आठ अब।
होंगे, प्रकटें हरि सबनि, महँ भूपति सब श्रवन कब॥
सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग, ये जब चारों सहस्र

---

* राजा परीक्षित् श्री शुकदेवजी से पूछते हैं—"हे गुरुदेव! आप के मुख से स्वयंभुव मनु के वंश का वर्णन तो विस्तार के साथ सुना जिसमें प्रजापतियों की परम्परा थी। अब मुझे आप अन्य मनुओं का वृत्तान्त सुनावें। ब्रह्मन्! मैं तो अवतार चरित्र सुनने का इच्छुक हूँ अतः महामहिम श्री हरि जहाँ जहाँ जैसे जन्म लिये हैं, जैसे कर्म किये हैं, जिनका कि कविगण कथन किया करते हैं उन सबको मुझे सुनाइये।"

सहस्र वार बीत जाते हैं, तब ब्रह्मा बाबा का एक दिन होता है इतनी ही बड़ी इनकी रात्रि दिन बीत जाने पर ब्रह्माजी तीनों लोकों को अपने में लीन करके भगवान् के उदर में सो जाते हैं। निशा का अवसान होने पर फिर धंधे में लग जाते हैं फिर से सृष्टि करने लगते हैं। जैसे व्यापारी रात्रि में दुकान के सब सामान को भीतर रखकर ताला बंद करके सो जाता है। प्रातः होते ही फिर उस पसारे को पसारता है, इसी प्रकार ब्रह्मा जी दिन के अंत में भू-भुव और स्वः इन तीनों लोकों को अपने में छिपा लेते हैं मह, जन, तप और सत्य ये चार लोक बने रहते हैं। महर्लोक की बस्ती खाली हो जाती है, वहाँ के निवासी जन लोक में चले जाते हैं। इसी का नाम है कल्पप्रलय। महाप्रलय में अर्थात् ब्रह्मा जी की १०० वर्ष की आयु पूर्ण होने पर जो प्रलय होती है, उसे महाप्रलय कहते हैं। उस समय कोई भी लोक नहीं रहता। ब्रह्मलोक तक समस्त लोक वैकुन्ठनाथ में लीन हो जाते हैं। एक कल्प में १४ मन्वन्तर होते हैं। ७१ चौकड़ी से कुछ अधिक चौकड़ी का एक मन्वन्तर होता है। उस मन्वन्तर के एक अधिपति मनु, मनुपुत्र, सप्तर्षि देवगण इन्द्र और एक उस मन्वन्तर का अवतार होता है। इस कल्प में सबसे पहिला मन्वन्तर स्वायम्भुव मन्वन्तर हुआ। जिसमें मन्वन्तरावतार भगवान यज्ञ पुरुष हुए। कपिल नर नारायण आदि और भी अवतार हुए। इस प्रकार यह निमेष, पल घटिका, मुहुर्त, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, दिव्य वर्ष, युग, मन्वन्तर, कल्प, महा कल्प की शृंखला बंधी ही रहती है। एक के पश्चात् दूसरे आते जाते रहते हैं। यह प्रवाह अनादि है और अनंतकाल तक ऐसा ही चलता रहेगा। इसका आदि नहीं, अंत नहीं ओर नहीं, छोर नहीं। इस इतने बड़े काल में

मनुष्यों के दिनों से मनुष्यों के १०० वर्ष अनन्त सागर में एक विन्दु के सदृश भी तो नहीं हैं, जिसके अभिमान में यह प्राणी फूला नहीं समाता। मैं यह कर दूँगा, वह कर दूँगा, अरे भैया! तू क्या कर देगा, यह प्रवाह तो सनातन है, तू अवतार चरित्रों का श्रवण कर! इसी में तेरा कल्याण है! ये भौतिक पदार्थ तो सदा से ऐसे ही हैं, ऐसे ही रहेंगे। डांड़ से नौका चलाली या लोहे की बड़ी बनाकर वाष्प से भगा ली। हल से खेती करली या विविध यन्त्र बनाकर विद्युत् से करली। इनमें कोई अंतर नहीं। मनुष्य जीवन की सफलता तो भगवत् चरित्रों के श्रवण में है, भक्त और भगवान के चरणों में प्रीति रखने में है, वही श्रवणीय है, वही मनन करने योग्य है। और सब तो जग का जंजाल है। यह सब तो संसार का चकर है, जन्ममरण देने वाला है, अधिकाधिक संसार में फँसाने का व्यापार है।

धर्मराज नारद सम्वाद को समाप्त करके जब सूतजी ने नैमिषारण्य के मुनियों से पूछा कि 'आप अब और क्या सुनना चाहते हैं, इसे सुनकर शौनक जी बोले—"सूत जी! आपने तो इस प्रसंग को ऐसे स्थान पर समाप्त किया कि इसमें अब आगे कथा प्रसंग कैसे चले? महाराज! हम तो अवतार चरित के रसिक हैं। हमें तो आप भगवान् के अवतारों का चरित्र सुनावें या उनके अनन्य उपासक भक्तों का चरित्र सुनावें अन्य बातों के सुनने की हमारी इच्छा नहीं। हाँ, तो आप यह बताइये, कि इतनी कथा सुनाकर गंगा तट पर अन्न जल छोड़े हुए महाराज परिक्षित् ने शुकदेव जी से क्या प्रश्न किया। उनका प्रश्न तो प्रसंगानुसार ही होगा। इस कथा को चालू रखने को इसी सम्बन्ध का उन्होंने प्रश्न किया होगा, उसे ही

सुनावें।"

यह सुनकर सूत जी हँस पड़े और बोले—"महाराज! आप सर्वज्ञ हैं। आप तप के प्रभाव से भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कालों की बात जान लेते हैं। जो आप मुझसे पूछ रहे हैं, उसीसे मिलता जुलता प्रश्न भरतवंशावतंस महाराज परीक्षित् ने अवधूत चक्रचूडामणि मेरे गुरु देव व्यासनन्दन भगवान् शुक से पूछा था। उसी प्रश्न के उत्तर में आपके प्रश्न का उत्तर आ जायगा।

इतनी कथा सुनकर महाराज परीक्षित् ने शुकदेव जी से पूछा—"प्रभो! अब तक आपने स्वायम्भुव मन्वन्तर में होने वाले मनु की सन्तानों का, उनके पुत्र, पौत्र और दौहित्रों के वंश का वर्णन किया। जिन्होंने इस समस्त सृष्टि को जीवों से भर दिया। ब्रह्मन्! आपने कहा था एक कल्प में १४ मनु होते हैं। अब तक तो आपने एक ही मनु के वंश का वर्णन किया। अब इस कल्प के शेष १३ मनुओं के वंश का वर्णन और करें।"

महाराज के इस प्रश्न को सुनकर श्रीशुकदेवजी खिलखिला कर हँस पड़े और बोले—"राजन्! एक ही मनु के वंश को सुनाते सुनाते तो आज चौथा दिन हो गया। श्रीमद्भागवत् के ७ स्कन्ध समाप्त हो गये। अब तीन ही दिन तो आपकी अवधि में शेष हैं। बारह स्कन्धों में चार स्कन्ध शेष हैं। यदि विस्तार से शेष १३ मनुओं के वंश का वर्णन करूँ तब तो यह कथा वर्षों में भी समाप्त न होगी। आपने तो एक साथ इतना लम्बा चौड़ा प्रश्न कर दिया, कि फिर इसमें आगे प्रश्न करने का अवसर ही नहीं। एक के पश्चात् दूसरे, दूसरे के पश्चात् तीसरे, इस प्रकार इन मनुओं के वंश का वर्णन करता रहूँ।"

यह सुनकर शीघ्रता के साथ महाराज परीक्षित् बोले—

"नहीं, नहीं भगवन् ! यह मेरा अभिप्राय नहीं है, कि आप इनके एक एक वंशज का बखान करें, पूरे वंश की पीढ़ियों का वर्णन करें। मुझे तो इन मन्वन्तरों में भगवान् के जो अवतार हुए हैं, मन्वन्तरावतार धारण करके प्रभु ने जो जो चरित्र किए हैं, उन्हें ही संक्षेप में सुनावें। इस कल्प में कितने मनु होंगे उनमें से कितने हो चुके हैं ? कौन मन्वन्तर अब चल रहा है आगे कितने मन्वन्तर शेष हैं, यह बताकर इनमें जो विशेष चरित्र हों उन्हें ही कहीं संक्षेप से कहीं विस्तार से सुनावें।

यह सुनकर श्री शुक बोले—"राजन् ! इसी कल्प में क्यों सभी कल्पों में १४ मन्वन्तर होते हैं। इस कल्प ( ब्रह्माजी के दिन ) के ६ मन्वन्तर तो बीत चुके हैं, साँतवाँ चल रहा है। सात और आने वाले हैं। जो मनु बीत चुके हैं, उनके नाम स्वायंभुव, स्वरोचिष, प्रियव्रत, तामस, रैवत और चक्षुप हैं। इस समय जो वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है यह सातवाँ मन्वन्तर है इस के अधिपति विवस्वान के पुत्र श्राद्धदेव हैं। इस प्रकार ये सात मन्वन्तर हो गये। अब आगामी जो सात मनु होंगे उनके नाम सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि धर्मसावर्णि होंगे। ये क्रमशः एक के पश्चात् दूसरे इस प्रकार सभी अपने मन्वन्तर पर्यन्त शासन करेंगे। इन प्रत्येक मन्वन्तर में भगवान् के एक एक अवतार होंगे।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—सूतजी ! हमें भगवान् के अवतारों का ही चरित्र सुनावें।"

इसपर सूतजी बोले—"भगवन् ! प्रत्येक मन्वन्तर में भगवान् ६ रूप रखकर रहते हैं, इन ६ का ही चरित्र भगवत् चरित के अन्तर्गत है। मनु, मनुपुत्र, इन्द्र, देवगण, सप्तर्षि और मन्वन्तरावतार। भगवान् क्रीड़ा के लिये अपने ये ६ रूप बना

लेते हैं प्रत्येक मन्वन्तर में अवतार लेकर भगवान् कोई न कोई विशिष्ट कार्य करते हैं।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सबसे पहिले स्वायम्भुव मन्वन्तर में भगवान का कौन कौन सा मन्वन्तरावतार हुआ और उसने कौनसा विशिष्ट कार्य किया इसे आप हमें सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"भगवन्! यह तो मैं पीछे बता ही चुका हूँ, कि प्रथम मन्वन्तर के अधिपति स्वायम्भुव मनु थे। उनकी शतरूपा नाम की रानी थी, जिनसे आकूति, देवहूति और प्रसूति ये तीन कन्यायें और प्रियव्रत, उत्तानपाद ये दो पुत्र हुये थे। भगवती देवहूति के गर्भ से भगवान् से प्रथम युगावतार भगवान् कपिल हुये, जिन्होंने संसार में ज्ञान का उपदेश दिया। उनका चरित्र तो मैं पहिले सुना ही चुका हूँ। भगवती आकूति के गर्भ से भगवान् का मन्वन्तरावतार हुआ ये भगवान् संसार में धर्म का प्रचार करने के निमित्त 'यज्ञ' नाम से प्रसिद्ध हुये। इन यज्ञ भगवान् ने स्वायम्भुव मनु की और उस मन्वन्तर के इन्द्र बनकर, इन्द्र पद का पालन कैसे किया जाता है, इसकी शिक्षा दी।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! स्वायम्भुवमनु को असुर राक्षसों ने क्यों कष्ट दिया और यज्ञ भगवान् ने उनकी किस प्रकार रक्षा की इस प्रसंग को आप हमें विस्तार के साथ सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज, विस्तार से तो नहीं सुना सकता, क्योंकि अभी मुझे बहुत कथा कहनी है। हाँ, संक्षेप में सुनाता हूँ, आप सावधानी के साथ सुनिये।"

भगवन्! जब भगवान् स्वायम्भुव मनु अपनी पुत्रियों, पौत्रों का विवाह कर चुके और संसारी विषय भोगों की ओर

से उनकी अरुचि हो गई, तो अपना राज्यपाट पुत्र को सौंपकर वैराग्य को धारण करके, सम्पूर्ण भोगों से विरक्त हो कर, अपनी पत्नी शतरूपा के साथ तपस्या करने वन को चले गये।

वहाँ जाकर वे गुह्य मन्त्रोपनिषदसार का निरन्तर जप करते रहे। वे जो मन्त्र जपते थे उसका सार यह था "जिससे यह समस्त विश्व ब्रह्माण्ड व्याप्त है, जिसकी सत्ता से सभी प्राणी चैतन्य हैं, किन्तु जिसे किसी की चेतनता की अपेक्षा नहीं है। इस विश्व के शयन करने पर भी जो साक्षि रूप से सर्वदा जाग्रत ही बना रहता है। जो जगत् को जानता है, जगत् जिसे जानता नहीं। जो भी कुछ दृश्य, श्रुत है सब उन्हीं के द्वारा व्याप्त है। इसीलिये वे सर्व व्यापक विभु और ब्रह्म हैं। जगत् में जो कुछ है सब ईश से ढका है इसलिये भक्ति भाव से भोग करना चाहिये सब कुछ उन्हें समर्पित करके, प्रसाद रूप से ग्रहण करना चाहिये। कभी भी किसी के धन में आसक्त न होना चाहिए। वह ब्रह्म, चक्षु, कर्ण, श्रोत आदि इन्द्रियों का विषय नहीं है। इन बाह्य इन्द्रियों द्वारा उनका ज्ञान असम्भव है, किन्तु वह स्वयं ज्ञान स्वरूप है। उसका ज्ञान कभी क्षीण नहीं होता। उसी सबके अन्तःकरण में निवास करने वाले, सब प्रकार की आसक्तियों से रहित, उन परात्परप्रभु का ध्यान करना चाहिये।

जिन प्रभु का न आदि है, न मध्य तथा न अंत, न कोई अपना है न पराया, जो न बाहर है न भीतर अर्थात् सर्वत्र है। जो आदि, मध्य, अन्त, कर्ता, धर्ता, हर्ता सब ये ही हैं। यह दृश्य प्रपञ्च एक मात्र उन्हीं से उत्पन्न हुआ है। उनका स्वरूप सत्य है,

चैतन्य हैं, अनन्त हैं। वे सर्वत्र परिपूर्ण हैं, बृहद् होने से ब्रह्म कहाते हैं।

यह विश्व ही उनका प्रत्यक्ष स्थूल शरीर है। उनके अनन्त नाम हैं, ईश्वर, सत्यरूप, स्वयंप्रकाश, अजन्मा तथा पुराण-पुरुष ये प्रसिद्ध नाम हैं। तीनों शक्तियों का वही एक मात्र स्वामी है। अपनी मायाशक्ति से इस विश्व ब्रह्माण्ड की रचना करके उसी के द्वारा पालन करता कराता है। वही अपनी नित्यसिद्ध ज्ञान शक्ति से इन सबको त्याग कर सर्वथा, निरीह बन जाता है। यद्यपि कर्म बन्धन के कारण हैं तथापि नैष्कर्म की सिद्धि के लिये भी तो साधन रूप कर्म करने ही पड़ते हैं। उसी के द्वारा सकाम कर्मों के स्थान में निष्काम कर्म करने की चेष्टा करते हैं; क्योंकि निष्काम भाव से किया हुआ कर्म ही मोक्ष प्राप्त करा सकने में समर्थ हो सकता है। यदि कर्म करने मात्र से ही बन्धन होता हो, तो भगवान् नाना अवतारों को धारण करके विविध कर्म क्यों करते? वे सर्वान्तर्यामी प्रभु कर्म करते हैं, आत्म लाभ से पूर्ण काम होने के कारण उन कर्मों में आसक्त नहीं होते। निरासक्त होकर कर्म करते हैं। इसी प्रकार जो तदीय हैं, प्रपन्न हैं, भगवत्शरणापन्न हैं, वे भी निष्काम कर्म करते हुए उन कर्मों के फलों में आसक्त नहीं होते। जो प्रभु सबको शिक्षा देते हैं, जो स्वयं निष्काम कर्म का आचरण करते हुए अपने सनातन मार्ग पर स्थित रहते हैं। जो ज्ञान स्वरूप होने के कारण अहंकार से रहित हैं, जो पूर्ण काम होने से निष्काम हैं जो किसी दूसरे की प्रेरणा से कार्य नहीं करते, जो सम्पूर्ण धर्मों की प्रवृत्ति कराने वाले हैं, उन परात्परप्रभु परमेश्वर की मैं शरण लेता हूँ।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार स्वायंभुव मनु ध्यान में तन्मय हुए एकाग्र चित्त से इस मन्त्रोपनिषद् का निरन्तर जप करते रहे। जप करते करते उन्हें अपने शरीर की भी सुधि न रही। उसी समय वहाँ बहुत से असुर राक्षस आ गये। वे बुभुक्षा से पीड़ित थे। भूख में वे सब मिलकर मनु जी को खाने दौड़े। वे तो ध्यान में मग्न थे। सर्वान्तर्यामी प्रभु ने जो यज्ञ रूप धारण करके मनु पुत्री आकूति के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, तुरन्त वहाँ अपने याम नामक पुत्रों के साथ आये। उन्होंने आकर यक्ष राक्षसों से घनघोर युद्ध किया। अन्त में यक्षराक्षसों की हार हुई। भगवान् ने उन सबको मार भगाया। भगवान् के इस प्रभाव को देखकर देव गण अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। तब सब देवताओं ने मिलकर भगवान् से देवेन्द्र बनने की प्रार्थना की। देवताओं की प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् स्वर्ग के इन्द्रासन पर विराजमान हुए। उनके याम नामक जितने सब पुत्र थे उस मन्वन्तर में देवताओं के गण हुए। इस प्रकार उस मन्वन्तर का भगवान् ने इन्द्र बनकर पालन किया। यह मैंने प्रथम, मन्वन्तरावतार की कथा कही।"

स्वायम्भुव मनु के मन्वन्तर के बीत जाने पर दूसरे मन्वन्तर में अग्नि के पुत्र स्वारोचिष दूसरे मनु हुए। उनके द्युमान्, सुषेण तथा रोचिष्मान् आदि मनुपुत्र हुए। उस मन्वन्तर के इन्द्र का नाम था रोचन, तुषित नामक देवगण हुए और उर्जस्तम्भ आदि सात मुनियों ने सप्तर्षि का पद ग्रहण किया। जैसे प्रथम मन्वन्तर में मन्वन्तरावतार और इन्द्र के दोनों ही पदों को भगवान् ने सुशोभित किया वैसे इस मन्वन्तर में नहीं हुआ। इसमें रोचन इन्द्र पृथक् हुए और वेदशिरा नामक

मुनि की तुषिता नाम वाली पत्नी से भगवान् ने अवतार ग्रहण किया।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! ये स्वारोचिष मनु पूर्व जन्म में कौन थे, किस पुण्य प्रभाव से उन्हें यह त्रैलोक्य वन्दित पद प्राप्त हुआ ? कृपा करके इनकी कथा यदि आप उचित समझें तो हमें सुना दें।"

यह सुनकर सूत जी बोले—"भगवन् ! इन द्वितीय मनु की कथा बड़ी ही सरस, मनोरञ्जक तथा शिक्षाप्रद है, उसे मैं आप को सुनाता हूँ आप दत्तचित्त होकर इसे श्रवण करें।"

काशी क्षेत्र में भगवती भागीरथी में आकर पुण्यतोया वरुणा नदी मिली है। वरुणा नदी बड़ी पवित्र है, इसी नदी के तट पर प्राचीन काल में अरुणास्पद नामक एक सुन्दर नगर था। उसमें एक बड़े ही सदाचारी कर्मकाण्डी ब्राह्मण रहते थे। वे ब्राह्मण कुमार इतने सुन्दर थे, कि दूर दूर से लोग उनको देखने के लिये आते थे। स्वर्ग में जैसे अश्विनी कुमार सबसे सुन्दर माने जाते हैं, उसी प्रकार मर्त्य लोक में वे ब्राह्मणकुमार सुन्दर थे। जैसे वे शरीर से सुन्दर थे वैसा ही उनका अन्तःकरण भी स्वच्छ, निर्मल और पवित्रता पूर्ण था। उन्हें आगत अतिथियों के स्वागत सत्कार में, उनकी सेवा करने में बड़ा आनन्द आता था। इससे उनका चारों ओर नाम हो गया था। जो भी अतिथि आश्रम के लिये स्थान पूछता, सब निःसंकोच इन ब्राह्मणकुमार के समीप भेज देते और ये भी उसका भलीभाँति आदर सत्कार करते, ठहरने को स्थान देते भोजन के लिये सामग्री देते और भी वे जो इच्छा प्रकट करते यथासाध्य उसकी पूर्ति करते। इससे उनका यश भी चारों

ओर फैल गया और सब लोग उनका आदर भी अत्यधिक करने लगे। ब्राह्मण कुछ प्रकृति प्रेमी भी थे, वे एकान्त में जा कर घंटों पेड़ पत्तों को देखते रहते। सोचते—"इन इतने सुन्दर पुष्पों को किसने बनाया, इतने फलवान् वृक्षों की उत्पत्ति कैसे हुई? यह पृथिवी कितनी बड़ी है, इस पृथिवी पर कितने देश हैं? लोग हिमालय की बड़ी प्रशंसा करते हैं, हिमालय पर्वत कैसा होगा?" इस प्रकार वे पृथिवी के वन, उपवन, नद, नदी तथा पर्वतों को देखने के लिये सदा समुत्सुक बने रहते थे।"

एक दिन उनके यहाँ एक दूसरे वेदज्ञ ब्राह्मण आकर अतिथि हुए। ब्राह्मण कुमार ने उनका बहुत आदर सत्कार किया। श्रद्धा सहित भोजन कराया, ठहरने के लिये स्थान दिया। जब सत्संग के लिये दोनों बैठे, तो आगन्तुक ब्राह्मण अनेक देशों की बातें करने लगे। वह देश ऐसा है, उसका ऐसा सदाचार है, वहाँ की स्त्रियाँ ऐसी हैं। हिमालय पर्वत की छटा अपूर्व है, उस पर सिद्ध, गन्धर्व विचरण करते हैं, अप्सरायें वहाँ विहार करती हैं।"

इन सब बातों को सुनकर ब्राह्मणकुमार को बड़ा कुतूहल हुआ, उन्होंने उन आगन्तुक ब्राह्मण से पूछा—"ब्रह्मन्! मुझे एक शंका है, उसका आप निवारण करें। आपकी बातों से तो ऐसा प्रतीत होता है, मानों आपने देश विदेश सभी स्थानों में भ्रमण किया हो, समुद्र पार के भी देशों में आप गये हों। सभी पर्वत प्रान्तों का आपने अवलोकन किया हो।"

ब्राह्मण ने कहा—"हाँ, द्विजवर! आपका अनुमान सत्य है, पृथिवी पर कोई भी ऐसा देश शेष नहीं है जो मैंने देखा न हो।"

तब ब्राह्मणकुमार ने कहा—"मुझे शंका इसी बात की है, कि आप न तो अभी बूढ़े ही हुए और न यात्रा जनित श्रम ही आपके शरीर से प्रतीत होता है, फिर आप इतनी लम्बी लम्बी यात्रायें कैसे कर सके ?"

ब्राह्मण बोला—"हे द्विजवर ! मुझे पैदल नहीं चलना पड़ता। मुझे बहुत सी औषधियों का ज्ञान है। मेरे पास एक ऐसी औषधि है, जिसका पैरों में लेप कर लेते हैं जिस दिशा को जाना हुआ उस दिशा को अभिमंत्रित कर लेते हैं, फिर उस औषधि के प्रभाव से मैं आधे दिन में चार हजार कोश चला जाता हूँ।"

यह सुनकर ब्राह्मणकुमार को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—"ब्रह्मन् ! हिमालय देखने को मेरी बड़ी इच्छा है, यदि आप मेरे ऊपर भी कृपा करें, तो मैं भी अपनी इच्छा पूर्ण कर सकूँ।"

यह सुनकर ब्राह्मण ने कहा—"अच्छी बात है, मैं आपकी इच्छा पूर्ण करूँगा।"

इस बात से ब्राह्मण कुमार को बड़ी प्रसन्नता हुई। प्रातःकाल वे सन्ध्या अग्निहोत्र करके हिमालय की यात्रा के लिये तैयार हुए। उन्होंने सोचा—"जब आधे दिन में चार हजार कोश जा सकता हूँ, तो सायंकाल लौट कर यहीं आकर सन्ध्या अग्निहोत्र करूँगा। इसीलिये साथ में अग्निहोत्र आदि की कोई वस्तु नहीं ली।"

ब्राह्मण ने उनके पैरों में एक लेप लगा दिया, उत्तर दिशा को अभिमन्त्रित कर दिया, अब वे इच्छानुसार उत्तर दिशा की ओर उड़ने लगे। जहाँ संकल्प करते उतर जाते, फिर उड़ने लगते। इस प्रकार मार्ग के नगर, उद्यान, नदी नद तथा विशिष्ट

स्थानों को देखते हुए वे ब्राह्मण कुमार हिमालय पर जा पहुँचे। वहाँ की शोभा देखकर वे चकित रह गये। एक पर्वत शिखर से दूसरे पर्वत शिखर पर उड़कर पहुँच जाते। वे हिमालय की शोभा देखकर आत्म विस्मृत से बन गये। बरफ से ढके स्वच्छ, शुभ्र निर्मल चाँदी के समान चमकते हुए पर्वतों को देखकर उनका चित्त भरता ही नहीं था। हिमालय की उप-त्यिकाओं की अद्भुत शोभा, वहाँ के विचित्र पुष्पों की मन मोहक गन्ध, शान्त एकान्त स्थान, ये सभी वस्तुएँ विप्र के मन में एक अनिवर्चनीय आनन्द का संचार करने लगीं। ब्राह्मण अपने आपे को भूलकर पैदल ही उस हिमावृत्त प्रदेश में विचरण करने लगा। बरफ पर पैदल चलने से औषधि का लेप धुल गया, ब्राह्मण को इसका पता ही न चला जब वह इधर उधर घूमते घूमते थक गया और भगवान् भुवनभास्कर भी जब अस्ताचल की ओर प्रस्थान करने के लिये प्रस्तुत हुए, तब उसे अग्निहोत्र और सन्ध्या की स्मृति आई। अब उन्होंने पुनः उड़ कर घर जाने का संकल्प किया, किन्तु अब क्या होता था, औषधि तो बरफ के जल से धुल गई थी। उसका प्रभाव नष्ट हो चुका था, ब्राह्मण ने घर लौटने में अपने को असमर्थ पाया। अब तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे इस अव-सर पर मुझे कोई सन्त मिल जाते, तो मेरे धर्म का लोप न होता। सन्ध्या अग्निहोत्र करना मेरा परम धर्म है। मैं सब कुछ छोड़ सकता हूँ, किन्तु धर्म को छोड़ना मेरे लिये कठिन है। धर्म संकट में पड़े हुए पुरुषों को सन्त ही उबार सकते हैं।" यह सोचकर वे संत की खोज में इधर-उधर फिरने लगे। उन्हें कोई सन्त तो मिला नहीं एक सन्तिनी मिल गई।

उस धन्य प्रदेश में वरूथिनी नाम की अप्सरा इधर उधर

घूमती हुई प्रकृति पर्यवेक्षण कर रही थी। यौवन के मद में मदमाती हुई वह अप्सरा अपने सौंदर्य के आलोक से दशों दिशाओं को आलोकित करती हुई मुग्धा हरिणी की भाँति फिर रही थी। वह स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सराओं में गिनी जाती थी। उसका सौंदर्य अनवद्य था। उसने अभी तक किसी पुरुष से प्रेम नहीं किया था। सहसा उसकी दृष्टि इन विपत्ति में पड़े ब्राह्मणकुमार के ऊपर पड़ गई। एकान्त में इनके अनवद्य सौंदर्य को देखकर अप्सरा इनके रूप पर आसक्त हो गई। कामी पुरुष कितना भी सुन्दर क्यों न हो काम की वासना से निरन्तर असत् के चिंतन से, उसका सौंदर्य मलिन पड़ जाता है, उसमें आकर्षण नहीं रहता। किन्तु जो सदाचारी है, संयमी है वह चाहे उतना सुन्दर न भी हो, किन्तु संयम सदाचार के ओज तेज के कारण उसका सौंदर्य निखर जाता है। उसमें एक प्रकार के अद्भुत आकर्षण का समावेश हो जाता है। जिसकी दृष्टि उस पर पड़ती है, वही उसे देखकर प्यार करने लगता है। वह वरूथिनी प्रेम की प्यासी थी, अभी तक उसका हृदयमंदिर प्रेम प्रतिमा के बिना सूना था। उसने उसमें अभी तक कोई प्रतिमा स्थापित नहीं की थी। मन्दिर के अनुरूप कोई प्रतिमा उसे दिखाई ही न दी। सहसा अनाहूत भाव से उस ब्राह्मण की अनुपम छवि उसके हृदय मन्दिर में घुस ही नहीं गई बल पूर्वक उसमें बैठ गई। अप्सरा पगली सी होकर उस विप्र-कुमार की ओर देखती की देखती ही रह गई।

ब्राह्मणकुमार कामी होते तो उनका भी चित्त चंचल होता, वे बार बार उसके मुख की ओर निहारते। हृदय के भाव जो प्रायः मुख पर अंकित हो जाते हैं उन्हें पढ़ने का प्रयास करते, किन्तु वे तो धर्मात्मा थे। अतः उन्होंने वरूथिनी की ओर निहारा

तक नहीं, किन्तु वरूथिनी तो अपना सर्वस्व उन ब्राह्मण कुमार के ऊपर निछावर कर चुकी थी, अतः वह अपनी आभा से उस अरण्य प्रान्त को आभासित करती हुई, सरलता के साथ विप्र कुमार के सम्मुख आ खड़ी हुई।

उस एकांत पर्वत प्रांत में एक परम सुन्दर रमणी को देखकर ब्राह्मण को कुछ धैर्य हुआ और वे मधुर स्वर में बोले—सुन्दरी! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? यहाँ एकांत में अकेली क्यों विचरण कर रही हो?"

वरूथिनी ने अत्यन्त ही अनुराग भरी वाणी में परम स्नेह लज्जा और व्रीड़ा प्रदर्शित करते हुए कहा—"महाभाग! मैं स्वर्ग की अप्सरा हूँ, वरूथिनी मेरा नाम है। मैं प्रेम की प्यासी इस प्रांत में स्वेच्छा से विचरण करती हूँ। मैंने बहुत से मनुष्य, देवता, दैत्य, यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, किन्नर, विद्याधर तथा अन्य देव योनि वाले देखे हैं, किन्तु जैसा सौंदर्य आपमें है वैसा मुझे कहीं देखने में नहीं मिला। जिस प्रकार आपने मुझे बरबश अपनी ओर आकर्षित किया है वैसा किसी ने नहीं किया। आप कौन हैं? कहाँ से आये हैं?

यह सुनकर ब्राह्मण कुमार बोले—"सुन्दरि! मैं ब्राह्मण हूँ अरुणास्पद नामक नगर का निवासी हूँ, एक सिद्ध की कृपा से दिव्य अनुलेप के प्रभाव से मैं इस प्रांत में आ सका हूँ। मेरी असावधानी से बरफ के जल के कारण वह लेप धुल गया है। इस समय मैं बड़े धर्म संकट में पड़ गया हूँ, मैं अपने अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों से वञ्चित हो रहा हूँ, तुम मेरी सहायता करो।"

वरूथिनी ने अनुराग भरित हृदय से प्रेमभरी वाणी में कहा—"देव! आज्ञा करें, मैं आपकी कौन सी सेवा करूँ?"

ब्राह्मण ने कहा—"तुम वही उपाय करो, जिससे मैं अपने घर पहुँच सकूँ।"

वरूथिनी ने अपनी समस्त ममता बटोरकर आँखों में आँसू भर कर गद्गद् वाणी से कहा—"जीवनधन ! आप ऐसी बात कभी फिर मुख से न निकालें। मैं आपके बिना रह नहीं सकती। मैंने अपना सर्वस्व आपके चरणों में वार दिया है। आप मुझ अनुरक्ता को अपनाइये, मुझ दुखिनी के दुख को दूर कीजिये। कामबाण से पीड़ित मुझे प्रेम दान देकर प्रसन्न कीजिये।"

ब्राह्मण ने गम्भीर वाणी में कहा—"सुर सुन्दरि ! तुम कैसी धर्मविरुद्ध बातें कर रही हो। ब्राह्मण के लिये काम के वश में होना, कभी भी उचित नहीं। उसे तो सदा धर्म में स्थित रहना चाहिये। अपने नित्य नैमित्तिक कृत्यों में ही निरंतर अनुरक्त रहना चाहिये। सांसारिक प्रेमपदार्थ क्षण भर के लिये सुखदायी होते हैं, किन्तु धर्माचरण इस लोक में कठोर सा दीखने पर भी परलोक में अनन्त सुख देने वाला होता है, अतः तुम मेरी कुछ सहायता कर सकती हो, तो यही करो कि मैं अपने घर पहुँच जाऊँ और अपनी अग्नियों की जाकर उपासना कर सकूं।

वरूथिनी ने कहा—"देव ! परलोक में भी यही सुख है। आप तो भाग्यवश मुझे प्राप्त हो गये हैं। आप यहीं निवास करें। यह प्रान्त स्वर्ग से भी सुन्दर है। इसीलिये हम स्वर्ग को त्याग कर यहाँ रहती हैं। आपकी मैं सब प्रकार से सेवा करूँगी, अपने हृदय का हार बनाऊँगी, दिव्यवस्त्राभूषण, सुन्दरभक्ष्य, भोज्य तथा अङ्गराग, अम्लान पुष्पों की दिव्य मालायें तथा अन्यान्य भोग की सामग्रियाँ मैं आपकी सेवा में

सदा समर्पित करती रहूँगी। अपना तन, मन, धन तथा सर्वस्व समर्पित करके सदा आपको सुखी और सन्तुष्ट बनाये रखूँगी।"

ब्राह्मण ने कहा—"भामिनि! इन सांसारिक पदार्थों में विषय भोगों में यथार्थ सुख नहीं। सच्चा संतोष नहीं, वास्तविक सुख तो धर्म पालन में है। तुम इस पार्वत्य प्रदेश को रमणीय बता रही हो, मेरे लिये तो अग्निशाला ही सर्वोत्तम सुख का स्थान है। तीनों अग्नियाँ ही मेरी अराध्य हैं। यज्ञवेदी ही मेरी प्रिया है। तुम मुझसे ऐसा धर्म विरुद्ध प्रस्ताव मत करो। मैंने चंचलता वश बड़ी भूल की जो देश देखने के लोभ में पड़ कर अपनी अग्निशाला को छोड़कर यहाँ चला आया। ब्राह्मण को तो अपनी अग्निशाला में ही रहकर नित्य नैमित्तिक कर्मों में लगे रहना चाहिये। उसे देश विदेश के देखने के लोभ को संवरण करना चाहिये। यात्रा में न पूजन की सामग्री जुटती है, न भली भाँति नित्य नैमित्तिक कर्म ही होते हैं।"

वरूथिनी ने कहा—"प्राणनाथ! आप कैसी स्नेह हीन बातें कर रहे हैं? शरणागत की रक्षा करना, शास्त्रों में परम धर्म बताया है। मैं आपकी शरण आई हूँ, आपको आगे करके काम मुझे मार्मिक पीड़ा दे रहा है, मेरे अंग प्रत्यंग में वह मर्मान्तक वाण चुभो रहा है। हे शरणागतरक्षक! उससे मेरी रक्षा करें। मुझ दीना को अपनावें, मुझे अपने हृदय से लगावें।" इतना कहकर वह अत्यन्त ही कातर भाव से परम अनुराग के साथ बलपूर्वक ब्राह्मण के हृदय से लग गई। उस समय उसका शरीर रोमाञ्चित हो रहा था। काम के कारण वह अत्यन्त पीड़ित थी।"

उसके ऐसे साहस को देखकर ब्राह्मण ने साहस बटोरकर डाँटकर रोप के साथ कहा—"चल हट, दुष्टा कहीं की, यदि मुझे स्पर्श किया, तो मैं अभी भस्म कर दूँगा। तू ऐसे ही लोगों के पास जा जो तेरी इच्छा करते हों।" ऐसा कह कर वे ब्राह्मण उसी प्रकार उस अप्सरा से दूर हट गये, जिस प्रकार पुरुष अग्नि, साँप, बिच्छू अथवा सिंहादि हिंसक जन्तुओं को देखकर सहसा पीछे हट जाता है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् ने इस मनुष्य प्राणी को अपूर्ण बनाया है, यह एक से ही प्रेम कर सकता है। जो लोग धर्म से प्रेम करते हैं, उनकी दृष्टि में धर्म विरुद्ध काम, धर्महीन धन तुच्छ है। वे धर्म के आगे किसी को कुछ नहीं समझते। धर्म की बलि वेदी पर वे सब कुछ होम सकते हैं। धर्म के विरुद्ध भी कोई आकर्षण उन्हें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता। जिनके हृदय में काम जम जाता है, ऐसे कामी धर्म, अर्थ किसी को भी कुछ नहीं समझते। वे काम के पीछे चाहे जितने धर्म, विरुद्ध आचरण कर सकते हैं, धन को पानी की तरह बहा सकते हैं। अर्थ लोलुप धन के लिये धर्म तथा काम को कुछ नहीं समझते। पैसे के लिये वे अपनी पत्नी, बहिन बेटियों से भी अनुचित कार्य करा सकते हैं, देखिये, जिस वरूथिनी के एक कटाक्ष पर कलि नामक गन्धर्व अपना सर्वस्व होमने को तत्पर था, उसी वरूथिनी की एकान्त में दीनता पूर्वक की हुई प्रार्थना को एक धर्मभीरु ब्राह्मण ने बुरी वस्तु के सदृश ठुकरा दिया।"

ब्राह्मण ने जब सूर्यास्त के पूर्व किसी प्रकार भी अपने को अपनी अग्निहोत्रशाला में पहुँचने में असमर्थ पाया, तो वे

चिन्तित हुए। उन्होंने सोचा—"मैंने इतने दिनों तक अग्निदेव की अव्यग्र भाव से, आलस्य तथा दम्भ कपट छोड़कर, आराधना की है, क्या वे मेरी इस समय सहायता न करेंगे।" यह सोच कर उन्होंने निर्मल जल से आचमन किया और हाथ जोड़कर बोले—"हे अग्निदेव ! आप जगत् के पालक हैं, सबके रक्षक हैं, यदि मैंने कभी नियत समय पर वैदिक कर्म का परित्याग न किया हो, यदि मेरे मन में कभी पराये धन की अधर्म पूर्वक लेने की इच्छा न हुई हो और यदि मेरा मन कभी परस्त्री की ओर चंचल न हुआ हो, तो इस सत्य के प्रभाव से मैं सूर्यास्त के पूर्व ही अपने घर पहुँच जाऊँ।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! ऐसा कहते ही तुरन्त उनके शरीर में गार्हपत्य अग्नि ने प्रवेश किया। उनकी ज्वालाओं से ब्राह्मण का शरीर द्वितीय सूर्य के सदृश प्रकाशित हो गया। वरूथिनी उनके ऐसे अपूर्व तेज और ओज को देखकर और भी अधिक उन पर आसक्त हो गई। अग्नि के प्रभाव से वे तुरन्त उड़े और सूर्यास्त के पूर्व ही अपने घर पहुँच गये, वहाँ पहुँच कर उन्होंने अपने नित्य के अग्निहोत्रादि कर्म किये।"

इधर वरूथिनी की बुरी दशा थी। ब्राह्मण के जाते ही, उनके आँखों के ओझल होते ही यह कटी लता की भाँति गिर पड़ी उसे शरीर की सुधि नहीं रही। लम्बी लम्बी सांसे छोड़ती हुई वह जल से निकाली मछली की भाँति बिलबिलाने और तड़पने लगी। वह रात्रि उसने बड़े कष्ट से तड़फड़ाते और आँसू बहाते हुए ही बिताई। प्रातःकाल हुआ पर उसकी दशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भूख, प्यास, आहार, विहार की कुछ सुध ही नहीं थी। अश्रु बहाती हुई वह उसी ब्राह्मण कुमार की याद में बिलख बिलख कर रोती रही थी।

उसी समय कलि नामक गन्धर्व वहाँ आया। वह वरूथिनी पर पहले से ही आसक्त था। उसने बड़ी दीनता से वरूथिनी से प्रणय की भिक्षा माँगी थी। इस पर वरूथिनी ने इसे अस्वीकार ही नहीं किया, उसका तिरस्कार भी कर दिया था। वह अपना सा मुँह लेकर चला गया, किन्तु उसके मन में वरूथिनी की मनमोहिनी मूरति दूर नहीं हुई। वह सदा उसी का चिन्तन करता रहता। आज जब उसने वरूथिनी की ऐसी दशा देखी तो उसे परम विस्मय हुआ। उसने यह बात जानने के लिये कि वरूथिनी की ऐसी दशा क्यों हुई, ध्यान लगाया। ध्यान लगाने से उसे सब बातें मालूम हो गई। अब तो उसका मुख चमकने लगा। उसने सोचा—"क्यों न ब्राह्मण का रूप रखकर इसे ठग लूँ।"

वह कामी तो था ही, काम के सम्मुख उसके मन में सत्य धर्म का कुछ भी आदर नहीं था। अतः उस मायावी गन्धर्व ने माया से ज्यों का त्यों ब्राह्मण का रूप रख लिया और उसके सम्मुख इधर उधर विचरने लगा। वरूथिनी ने जब देखा, वे ब्राह्मण देव पुनः आ गये तो वह दौड़कर उनके समीप गई और बोली—"देव ! आप मेरी रक्षा करो। सत्य कहती हूँ यदि आप मुझे ठुकरा देंगे, तो मैं यहीं प्राण दे दूँगी। इससे आपको स्त्री—वध का पाप लगेगा।"

ब्राह्मण वेशधारी कलि ने कहा—"भामिनि ! क्या करूँ, मैं तो धर्म संकट में पड़ गया। एक ओर तो मेरा व्रत और दूसरी ओर तुम्हारे प्राणों की रक्षा का प्रश्न किसे छोड़ूँ, किसे अपनाऊँ ?"

इस पर दीनता के स्वर में वरूथिनी ने कहा—"हे धर्मज्ञ ! किसी के प्राणों की रक्षा करना करोड़ों धर्मों से बढ़कर है।

आप मेरी रक्षा करेंगे तो आपका पुण्य लोकों की प्राप्ति होगी।"

ब्राह्मण वेषधारी कलि गन्धर्व ने कहा—"तुम्हें एक प्रतिज्ञा करनी होगी रतिकाल में तुम नेत्र बन्द कर लिया करोगी। मेरी ओर उस समय भूलकर भी न देखोगी।"

वरूथिनी को इसमें क्या आपत्ति होनी थी, दोनों में गान्धर्व विवाह हो गया, दोनों आनन्द से गिरिराज के पुष्पित काननों में पर्वतों की सुन्दर मन हारिणी गुफाओं तथा सुन्दर सरिताओं के तटों पर विहार करते। वरूथिनी गर्भाधान के समय उन्हीं ब्राह्मण देव की तेजोमयी मूर्ति का ध्यान करती रहती। कुछ काल में वह गर्भिणी हुई। उसे गर्भिणी देखकर कलि गन्धर्व चला गया। कालान्तर में उस अप्सरा ने एक पुत्र रत्न को प्रसव किया। वह अपनी किरणों से सूर्य के सदृश सुशोभित था, अतः माता ने उसका नाम स्वरोचिष् रखा। शनैः शनैः वह बालक बढ़ने लगा। उसने मुनियों से वेद, वेदाङ्ग तथा धनुर्वेद सहित सभी विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। वह धनुष बाण लिये राजकुमारों की भाँति उस पर्वत प्रान्त में विचरण करने लगा।

एक दिन वह धनुष बाण धारण किये एक अत्यन्त ही मनोरम उपत्यका के समीप जा रहा था, कि उसे "बचाओ बचाओ मेरी रक्षा करो, रक्षा करो" ऐसे करुणा भरे सुमधुर कोमल शब्द सुनाई दिये। दृष्टि उठाकर उसने देखा एक अत्यन्त ही सुन्दरी नव युवती भय से विह्वल हुई उससे अभय की भिक्षा माँग रही है।"

अपने धनुष पर बाण चढ़ाते हुए नवयुवक कुमार स्वरोचिष् ने कहा—"देवि! तुम डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा के लिये

समुपस्थित हूँ, तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? किससे तुम्हें भय हुआ है ? यह सब वृत्तान्त मुझे सुनाओ।"

यह सुनकर भय से थर थर काँपती हुई उस युवती ने चारों ओर दृष्टि डाल कर कहा—"देव ! विद्याधरों के एक गण के अधिपति नलनाभ नामक गन्धर्वराज हैं। उनके पुत्र का नाम इन्दीवराक्ष था मैं उन्हीं की पुत्री हूँ मेरा नाम मनोरमा है, मेरे नाना गन्धर्व राज मरुधन्वा भी एक विख्यात वीर्य थे। उन्होंने भगवान् वसिष्ठ से अस्त्रहृदय नामक वह विद्या प्राप्त की थी जो वसिष्ठ जी ने स्वायंभुव मनु से और मनु ने पिनाक धारी भगवान् शूलपाणि से प्राप्त की थी। मैं पिता की इकलौती प्यारी पुत्री हूँ, मेरी दो सखियाँ और हैं एक का नाम तो विभावरी है जो मन्दार विद्याधर की पुत्री है, दूसरी कलावती नाम्नी पार मुनि की पुत्री है। एक दिन हम तीनों ही क्रीड़ा करती हुई कैलाश पर्वत के एक पावन प्रदेश में गई। वहाँ एक अत्यंत कृश विरूप मुनि को देखकर यौवन के उमंग में मैं उनकी हँसी उड़ाने लगी। मुनि ने क्रोध में भर कर मुझसे कहा—"दुष्टे ! तू मेरा उपहास करती है, जा, कुछ ही दिनों में एक राक्षस तेरे ऊपर झपटेगा।"

मुनि के शाप को सुनकर मेरी सखियाँ उस मुनि को भला बुरा कहने लगीं और उसके तप की निंदा करने लगीं। मुनि क्रोध में तो भरे ही थे। उनमें से एक को शाप दिया तुझे कुष्ट रोग हो जाय, दूसरी को शाप दिया तुझे राजयक्ष्मा हो जाय।" मुनि का शाप असत्य तो हो ही नहीं सकता था, अतः तुरन्त उन दोनों के ये रोग हो गये। मेरे पीछे भी आज तीन दिन से एक बड़ा भयंकर राक्षस पड़ा है। देखिये, वह दहाड़ रहा है, उससे आप मेरी रक्षा करें।"

वह यह कह ही रही थी कि इतने में एक भयंकर राक्षस स्वरोचिष् को दिखाई दिया। तब भय से विह्वल हुई मनोरमा ने कहा—"देव ! आप इस राक्षस पर मैं जो कहूँ वे ही अस्त्र छोड़िये। बात यह है कि मेरे नाना पर जो भी अस्त्र विद्या थी उसे उन्होंने मेरी माता के साथ दहेज में मेरे पिता को देदी थी, पिता ने वह सब स्नेहवश मुझे सिखादी थी। आप उस विद्या को तुरन्त मुझसे रहस्य एवं उपसंहार सहित ग्रहण करें। उसी के द्वारा आप इसे जीत सकेंगे।"

स्वरोचिष् ने आचमन करके प्रसन्नता पूर्वक उस अस्त्र हृदय को ग्रहण किया और उसी अस्त्र का उस राक्षस पर प्रयोग करना चाहा। इससे राक्षस डर गया और भयभीत होकर बोला—"हे शूरवीर ! प्रथम मेरी बात सुनले तब इस अस्त्र का प्रयोग करें।"

स्वरोचिष् ने कहा—"अच्छा, कहो क्या कहते हो ?"

राक्षस ने कहा—"हे वीरवर ! मैं राक्षस नहीं, इस लड़की का पिता इन्दीवराक्ष विद्याधर हूँ।"

स्वरोचिष् ने पूछा—"फिर आप राक्षस क्यों हो गये ? और अपनी पुत्री पर ही आक्रमण क्यों कर रहे हो ?

राक्षस बोला—"भैया ! अपनी अपनी करनी का फल है। मैं आयुर्वेद पढ़ने ब्रह्ममित्र नामक मुनि के समीप गया, उन्होंने निषेध किया। मैंने छिपकर छल से उनसे पढ़ लिया बात खुलने पर उन्होंने मुझे राक्षस होने का शाप दे दिया। बहुत अनुनय विनय करने पर उन्होंने कह दिया—"राक्षस होकर जब तुम अपनी पुत्री पर ही भूलकर आक्रमण करोगे, तो उस समय जो भी युवक तुम पर प्रचंड आक्रमण करने को उद्यत होगा उसी के द्वारा तुम्हारा उद्धार हो जायगा, तुम्हें पुनः

गन्धर्वलोक प्राप्त होगा।" सो हे धर्मज्ञ! अब मुझे पूर्ण ज्ञान है, मैं तुम्हें आयुर्वेद विद्या भी देता हूँ और अपनी इस मनोरमा कन्या को भी देता हूँ।" यह कहकर वह अपनी कन्या को और आयुर्वेद विद्या को देकर गन्धर्व लोक चला गया, पुनः उसे विद्याधर की योनि प्राप्त हुई।

इधर स्वरोचिष् ने मनोरमा के साथ विधिपूर्वक विवाह कर लिया। आयुर्वेद ये प्रभाव से उसने अपनी पत्नी की दोनों सखियों को भी अच्छा करके उनके साथ विवाह कर लिये इस प्रकार अपनी तीनों पत्नियों के साथ वे आनन्द पूर्वक हिमालय की मनोहर उपत्यकाओं में विहार करने लगे। उन तीनों के गर्भ से विजय, मेरुनन्द और महाबली ये तीन पुत्र हुए। तीनों पुत्रों के लिये तीन नगर बसा कर उन्हें वहाँ रख दिया और ये तीनों पत्नियों के साथ पूर्ववत पार्वत्य प्रदेश में ही आनन्द विहार करने लगे।

स्वरोचिष् को मृगया से बड़ा प्रेम था, अतः एक दिन धनुष बाण लिये उसने एक सूअर का पीछा किया। इतने ही में एक हरिणी ने आकर कहा—"हे धनुर्धारियों में श्रेष्ठ आप इस सूअर पर बाण क्यों छोड़ते हैं, मुझे ही अपने बाण से मार गिराइये। जिससे मैं भी अत्यंत क्लेश से छूट जाऊँगी, आपका भी बाण सफल होगा।"

मृगीके मुखसे मानुषीवाणी सुनकर सहानुभूति के स्वर में स्वरोचिष् ने कहा—"मृगी! तुम्हें क्या कष्ट है, अपने कष्ट का कारण बताओ, मैं भरसक उसके निवारण का यत्न करूँगा।'

मृगी ने कहा—'मुझे और कुछ कष्ट नहीं यही सबसे बड़ा कष्ट है, जिससे मैं प्यार करती हूँ वह मुझे प्यार नहीं

करता। प्यार के बिना रूखा जीवन बिताना व्यर्थ है। अपने प्रेमास्पद की अवहेलना की अपेक्षा तो मर जाना अच्छा है, सर्वश्रेष्ठ है।"

स्वरोचिष् ने कहा—"ऐसा कौन सा पुरुष है, जिसे तुम प्यार करती हो और वह तुम्हें प्यार नहीं करता। बड़ा हृदय-हीन है।"

मृगी ने कहा—"नहीं, हृदयहीन तो नहीं है, किन्तु वह अन्य स्त्रियों को प्यार करता है।"

स्वरोचिष् बोले—"मुझे उसे बताओ तो सही।"

मृगी बोली—"देव! अपराध। क्षमा हो। मैं आपको ही प्यार करती हूँ, आपको ही पाना चाहती हूँ। आप इन सुन्दरियों के रहते मुझसे प्रेम करेंगे नहीं, अतः आप के बाण से मरने में ही मुझे सुख है।"

हँसकर स्वरोचिष् ने कहा—"मैं दो पैर वाला, तुम चार पैर वाली। मैं तुमसे प्रेम भी करूँ तो व्यर्थ, तुम से विवाह कैसे कर सकता हूँ?"

मृगी बोली—"यदि आप मेरे ऊपर कृपा करने को उद्यत हों तो अनुराग भरित हृदय से मेरा गाढ़ आलिंगन कीजिये। स्नेहालिंगन एक ऐसी दिव्योपधि है, कि इससे असंभव बात भी संभव हो जाती है।"

यह सुनकर स्वरोचिष् ने स्नेह पूर्वक उसका आलिंगन किया। आलिंगन करते ही वह अत्यंत ही सुन्दर दिव्य रूप धारिणी सर्वाङ्ग सुन्दरी सुकुमारी नारी बन गई।"

विस्मित होकर स्वरोचिष ने पूछा—"तुम कौन हो?"

हँसकर उसने कहा—"देव! मैं इस वन की अधिष्ठातृ देवी हूँ। प्रथम मन्वन्तर बीतने पर जो दूसरा मनु होगा वह

आपके वीर्य से मेरे ही गर्भ द्वारा होगा, ऐसी बात मुझे देवताओं ने बताई है, अतः आप अपने वीर्य से मुझमें द्वितीय मनु को उत्पन्न करें।"

यह सुनकर स्वरोचिष् ने वन देवी के गर्भ से एक पुत्र रत्न उत्पन्न किया। पिता ने तो उसका नाम द्युतिमान् रखा किन्तु स्वरोचिष् का पुत्र होने से उसका नाम स्वारोचिष् हुआ। तपस्या के प्रभाव से उसने ब्रह्मा जी को प्रसन्न किया और ब्रह्माजी ने प्रसन्न होकर उसे मनुपद पर प्रतिष्ठित किया। ये ही दूसरे मन्वन्तरके अधिपति स्वारोचिष् मनु हुए। स्वारोचिष् अग्नि का भी नाम है इसीलिये स्वारोचिष् किसी कल्प में अग्नि पुत्र के भी नाम के विख्यात हुए।

तदनंतर राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! तृतीय मन्वन्तरावतार का क्या नाम था और उन्होंने कौनसा विशेष कार्य किया? यह कथा तो रह गई।"

यह सुनकर श्री शुक बोले—"राजन् इस अवतार में भगवान् का नाम "विभु" था।

राजा ने पूछा—भगवन्! इन विभु भगवान् की पत्नी का क्या नाम था, इन्होंने कौनसा कार्य्य किया?

इसपर श्री शुक बोले—"महाराज! इन विभु भगवान ने तो विवाह किया ही नहीं। इन्होंने यही सबसे बड़ा कार्य किया कि संसार में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का आदर्श उपस्थित किया। पहिले यह मान्यता थी कि अपुत्रों की गति नहीं। इन्होंने कहा—"नहीं, परमार्थ में स्त्री पुत्रों की कोई आवश्यकता नहीं, जिनके मन में संतान वासना न हो, वे विवाह न करके अखंड ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते हैं, तो वे अक्षय लोकों को प्राप्त होते हैं, मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं। ये जो नैमिषारण्य

में ८८ हजार ऋषि हैं, जो कुमारावस्था से ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए यम नियमादि साधनों के साधना में तत्पर रहते हैं, इस व्रत की दीक्षा भगवान् विभु ने ही इन्हें दी है। ये कल्पजीवी ऋषि ही हैं, कलियुग आने पर ये जन लोक में चले जाते हैं शेष समय नैमिषारण्य आदि पुण्य क्षेत्रों में भगवत् कथा में विताते हैं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! यह मैंने प्रथम और द्वितीय मन्वन्तरावतारकी कथा कही, अब आप तृतीय और चतुर्थ मन्वन्तरावतार की कथा सुनें।

## छप्पय

यज्ञपुरुष प्रभु भये प्रथम मन्वन्तर माहीं।
तप स्वायम्भुव करत असुर सोचें तिनि खाईं॥
जान्यो तिनको भाव मारि उद्धार करयो प्रभु।
मन्वन्तर जब द्वितीय भयो प्रकटे वे हैं विभु॥
ब्रह्मचर्य व्रत आयुभर, पालन की दीक्षा दई।
सहस आठासी मुनिनि नें, उन ही तें शिक्षा लई॥

---

## तृतीय और चतुर्थ मन्वन्तरावतार

( १०२ )

चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः ।
पृथुः ख्यातिर्नरः केतुरित्याद्या दश तत्सुताः ॥
तत्रापि जज्ञे भगवान् हरिण्यां हरिमेधसः ।
हरिरित्याहृतो येन गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात् ॥*
( श्री भा० ८ स्क० १ अ० २७, ३० श्लो० )

छप्पय

'उत्तम' प्रियव्रत पुत्र तीसरे मनु विख्याता ।
इन्द्र 'सत्यजित्' हते भये प्रभु तिनके त्राता ॥
धर्म पत्नि सूनृता उदर तैं प्रकटे श्री पति ।
'सत्य सेन' विख्यात सुरनि की एक मात्र गति ॥
ता मन्वन्तर मध्य महँ, सखा सत्यजित् के बने ।
सुरद्रोही दुःशील खल, दुष्ट यक्ष राक्षस हने ॥

बहुत से नास्तिक लोग कहते हैं, कि इस जगत् का कर्ता

---

*श्री शुकदेवजी कह रहे हैं—"राजन् ! उत्तम के भाई तामस चौथे मनु थे । पृथु, ख्याति, नर, केतु आदि उनके दश पुत्र थे । उस मन्वन्तर में भगवान् ने हरिमेधा नामक ऋषि की हरिणी नाम्नी भार्या में अवतार धारण किया, जो "हरि" इस नाम से जगत् में विख्यात हुए जिन्होंने गज को ग्राह से छुड़ाया ।

कोई नहीं है। स्वभाव से ही गुण गुणों में वर्त रहे हैं। जैसे जल स्वभाव से शीलता है, रजवीर्य के संयोग से सन्तानोत्पत्ति स्वभाव से ही हो जाती है। प्रकृति नियमों से ही यह संसार चल रहा है। यदि प्रकृति जड़ है तो उसमें संयमित करने की शक्ति नहीं। कोई जड़ यन्त्र चैतन्य के नियन्त्रण के बिना चिरकाल तक मर्यादानुसार चल नहीं सकता। परन्तु हम देखते हैं, संसार किसी एक नियम में आवद्ध यथावत् चल रहा है। ऋतुएँ क्रम से आती हैं, समय पर फल फूल लगते हैं, सूर्य, चन्द्र व अन्य ग्रह, नक्षत्र आदि एक नियम से चलते हैं। इन्हीं सब कारणों से प्रकृति से पुरुषोत्तम की सत्ता सिद्ध होती है। जैसे दिन के पश्चात् रात्रि होती है, गर्मी के पश्चात् वर्षा और वर्षा के पश्चात् जाड़ा वैसे हीएक मन्वन्तर के अनन्तर दूसरे, दूसरे के अनन्तर तीसरे ऐसे ही कल्प के १४ मन्वन्तर बीते हैं। उनमें वैसे ही एक मनु वैसे ही मनुपुत्र, इन्द्र, देवता, सप्तर्षि और अवतार हो जाते हैं। पिछले अवसर प्राप्त मनु देवता, सप्तर्षि आदि स्वर्ग लोक तथा महर्लोक में जाकर अधिकार हीन होकर आनन्द करते रहते हैं। दूसरे कल्प में फिर चुनाव में आ गये, तो कोई मनु इन्द्र बन गया कोई इन्द्र मनु हो गया। कोई सप्तर्षि हो गये ऐसे पद बदलते हैं। ब्रह्माजी का पद तक अस्थाई है नाशवान् क्षयिष्णु है एक विष्णु पद ही अक्षय है।

श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! मैंने आपसे दो मन्वन्तरों के अवतारों आदि का वर्णन कर दिया, अब आप तीसरे मन्वन्तर का वर्णन सुनें।

पीछे मैं स्वायम्भुव मनु के वंश वर्णन में बता ही चुका हूँ, कि स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद ये दो पुत्र थे। प्रियव्रत के पुत्र एक उत्तम थे, वे अपने पुण्य प्रभाव से तीसरे मन्वन्तर में मनु हो गये। उस पूरे मन्वन्तर का उन्होंने मनु

बनकर पालन किया। उनके पवन, सृञ्जय और यज्ञ होत्रादि पुत्र हुए जो इस पृथ्वी पर राजा बनकर इसके पालन करते रहे। वसिष्ठ जी के प्रमद आदि सात पुत्र थे, वे सातों भाई उस मन्वन्तर में सप्तर्षि हुए तथा सत्य वेदश्रुत और भद्र नामक देवताओं के गण हुए। उस मन्वन्तर के इन्द्र का नाम सत्यजित् था। भगवान् का उस मन्वन्तर में 'सत्यसेन' नाम से अवतार हुआ। धर्म देव की पत्नियों में से जो सूनृता थी, उसी के गर्भ से भगवान् प्रकट हुए।

उस समय दुष्ट यक्ष राक्षस इन्द्र को बहुत क्लेश देते थे, वे सर्वदा इसी चेष्टा में रहते थे कि इस इन्द्र को इन्द्रासन से उतारकर हम लोग ही स्वर्ग के अधिपति हो जायँ। असत्यभाव वाले उन दुःशील दुष्टों के अभिप्राय को जानकर देवेन्द्र सत्यसेन भगवान् की शरण में गये और इनसे सहायता के लिये प्रार्थना की। इस मन्वन्तर में भगवान् का अवतार इसी विशेष कार्य के लिये ही तो हुआ था, अतः भगवान् ने इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उन दुष्ट स्वभाव के यक्ष, राक्षस, असुर, भूत आदि को जो कि सभी प्राणियों से द्रोह करते थे, यज्ञ आदि में विघ्न करते थे, उन्हें नष्ट कर दिया। इस पर इन्द्र को बड़ी प्रसन्नता हुई।

उसने भगवान् से प्रार्थना की—"प्रभो! आप मुझे मित्र भाव से स्वीकार करलें और इसी प्रकार सदा मेरी इन असत्य परायण असुरों से रक्षा करते रहें।"

भगवान् ने 'तथास्तु' कहकर इन्द्र की प्रार्थना मान लिया तभी से वे इन्द्र के सखा कहलाये। भगवान् से सख्य सम्बन्ध स्थापित हो जाने से इन्द्र निर्भय हो गये और उस मन्वन्तर भर स्वर्ग का पालन भगवान् की सहायता से ही करते रहे।

महाराज प्रियव्रत के द्वितीय पुत्र उत्तम के छोटे भाई 'तामस' चौथे मन्वन्तर के मनु हुए। उनके पृथु, ख्याति, नर तथा केतु आदि १० पुत्र हुए जो पृथिवी पर भिन्न भिन्न स्थानों में अपनी अपनी राजधानी बना कर पृथिवी का पालन करने लगे और राजवंश की वृद्धि करने लगे। उस मन्वन्तर में सत्यक, हरि और वीर इस नाम से देवताओं के गण थे। इन्द्र का नाम त्रिशिख था ज्योतिर्धाम आदि सप्तर्षि थे। उस तामस मन्वन्तर में विधृति के पुत्र वैधृत नामक कुछ विशेष देव गण हुए थे, जिन्होंने काल क्रम से नष्ट हुए वेदों की सप्तर्षियों के साथ रक्षा की। प्रतीत होता है, उस समय के सप्तर्षि कुछ न्यून तेज वाले हो गये होंगे तभी तो विशेष देवगणों ने अवतीर्ण होकर अपने तेज से रक्षा की। उस मन्वन्तर में भगवान् का "हरि" नाम से अवतार हुआ। हरिमेधा नाम ऋषि की हरिणी नामक पत्नी के गर्भ से 'हरि' भगवान् प्रकट हुए।"

राजा ने पूछा—"प्रभो! 'हरि, भगवान् ने कौन सा विशेष कार्य किया?"

इस पर श्री शुकदेव जी ने कहा—"राजन्! इन्हीं हरि भगवान् ने ग्राह के फंदे में फँसे हुए गज का उद्धार किया।"

यह सुनकर अत्यंत ही उल्लास के साथ राजा परीक्षित् ने कहा—"प्रभो! गज ग्राह उद्धार की कथा तो संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध है यह तो अत्यन्त ही परम पावन चरित्र है। भगवान् की भक्त वत्सलता का यह सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है अपने आश्रितों की रक्षा के लिये भगवान् कैसे दौड़े आते हैं, इसका अत्यन्त उज्वल उदाहरण इसी प्रसंग में मिलता है। प्रभो! मैं इस पुण्याख्यान को विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ। गज को ग्राह ने कैसे पकड़ लिया, भगवान् ने कैसे जाकर

उसका उद्धार किया, इस परम पवित्र मंगलकारी शुभ चरित्र को आप कृपा करके मुझसे कहें। सब कथाओं में वही प्रसंग श्रेष्ठ है, सब प्रसंगों में वही प्रसङ्ग प्रशंसनीय तथा आदरणीय है, जिसमें पवित्र कीर्ति भगवान् हरि के नाम तथा गुणों का कीर्तन किया हो। स्वामिन्! मैं शुश्रुषु हूँ इस परम पावन पुण्यप्रद प्रसंग को प्रेम पूर्वक मुझ प्रणत को सुनाइयें।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"ऋषियों! महाराज परीक्षित् ने इतनी दीनता से अत्यन्त उत्सुकता के साथ जब गजग्राह के उद्धार का प्रश्न किया, तब भगवान् व्यास नन्दन ने उनकी प्रशंसा की। भगवान् की कथा के प्रति ऐसा ही उत्कट अनुराग होना चाहिए इस बात को बार बार कह कर राजा से बोले—"राजन्! मैं आपको गज ग्राह के उद्धार की कमनीय कथा सुनाता हूँ, उसे आप श्रद्धा सहित ऋषियों के साथ श्रवण करें।

### छप्पय

चौथे मनु जग माँहिँ भये तामस प्रियव्रत सुत।
मन्वन्तर अवतार भये "हरि" अति शोभा युत॥
पितु हरिमेधा भये मातु हरिनी कहलाईं।
कीन्हों गज उद्धार ग्राह तैं तुरत गुसाईं॥
क्यों गज पकरयो ग्राह नें, शंका राजा ने करी।
भयो युद्ध कहँ, कति दिवस, कैसे दुख मेट्यो हरी॥

---

# गज और ग्राह

( ५०३ )

आसीद् गिरिवरो राजंस्त्रिकूट इति विश्रुतः ।
क्षीरोदेनावृतः श्रीमान् योजनायुतमुच्छ्रितः ॥*

( श्री भा० ८ स्क० २ अ० १ श्लो० )

छप्पय

बोले शुक सुनि नृपति क्षीर सागर ढिंग गिरिवर ।
हतो त्रिकूट प्रसिद्ध सहस दस योजन सुन्दर ॥
लता गुल्म द्रुम सघन शृङ्ग सुखकर सब सोहैं ।
झर झर झरना झरैं सिद्ध सुर मुनिमन मोहैं ॥
क्रीड़ा कानन जहँ वरुन, को सुन्दर ऋतुमान अति ।
सुरललना घूमत फिरत, सुरति निरत निज सहित पति ॥

यह पृथ्वी मंडल अनियमित स्वतः ही बन गया हो सो

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! त्रिकूट नामक बड़ा भारी विख्यात एक पर्वत है, वह चारों ओर क्षीर सागर से घिरा हुआ है । वह दश सहस्र योजन ऊँचा है और अत्यंत ही शोभायमान है ।

बात नहीं । इसका निर्माण बड़ी सावधानी के सहित नाप तोल कर किया गया है । अर्थशास्त्रों में वर्णन है, कि ७ द्वीप हैं और उनसे घिरे सात समुद्र हैं, कमल के खिले पुष्प के समान यह जम्बूद्वीप है । इस जम्बूद्वीप में ६ खंड है कमल के बीच में जो कर्णिका है, उसके स्थान पर इलावृत खंड है। उसमें 'दिव्य सुमेरु पर्वत है । कमल चारो ओर जैसे दल होते हैं वैसे ही ८ खंड इस कमल के दल के समान हैं । इसके चारों ओर खारे जल का समुद्र है । समुद्र पार चारों ओर प्लक्ष द्वीप है । जैसे किले के चारों ओर खाई होती है वैसे ही प्लक्ष द्वीप के एक ओर क्षार समुद्र है दूसरी ओर इक्षु समुद्र है। एक समुद्र और उसके पश्चात् एक द्वीप। ऐसे सात द्वीप सात समुद्रों से घिरे हुए हैं। क्षारसमुद्र, इक्षुसमुद्र, सुरासमुद्र घृत-समुद्र, क्षीरसमुद्र, दधिमण्डोद समुद्र, तथा शुद्धोदक समुद्र, ये सात समुद्र हैं । क्षीर समुद्र को छोड़कर अन्य ६ समुद्र इन चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं देते ! ये दिव्य हैं, इनमें ऐसे ही जीव जन्तु, लता गुल्म, वृक्ष, ग्राम, नगर, वन, पर्वत, नद, नदी आदि सभी हैं । इनके पर्वतों पर सुन्दर सुन्दर देवोद्यान हैं जिनमें देवता अप्सराओं के साथ आकर विहार करते हैं ।

सूत जी कहते हैं—"मुनियों ! जब निराहार व्रत करके सावधानी के साथ श्री शुक के मुख से निसृत कथामृत के पान से तृप्त हुए भूपति श्री परीक्षित ने भगवान् व्यास नन्दन से गज ग्राह के उद्धार की कथा का प्रश्न किया तब तो भगवान् बादरायण गद्गद हो उठे। बोले—"राजन् ! तुम धन्य हो, जो अन्न जल त्यागने पर भी कथा सुनने में नवीन नवीन उत्साह दिखा रहे हो । महाराज पहिले मैं आपको गज और ग्राह के निवास स्थानों को बताता हूँ, फिर आगे इस परम पावन

प्रसंग को आपको सुनाऊँगा। आप इसे एकाग्र चित्त से समस्त मुनियों के सहित श्रवण करें।

हे उत्तरानन्दवर्धन ! राजन ! क्षीरसागर से घिरा हुआ, एक त्रिकूट नाम का अत्यंत 'रमणीय पर्वत था। वह साधारण पर्वत नहीं था सुमेरु के सामान ही वह प्रसिद्ध और विस्तीर्ण था। दस-हजार योजन तो वह ऊँचा था और इतना ही चारों ओर से विस्तृत था। राजन् ! वह भूस्वर्ग का मुकुट मणि गिरिवर था। उसके नीचे पुण्यशेष स्वर्गीय पुरुष निवास करते हैं। जो न कभी वृद्ध होते हैं, न उनके बाल ही सफेद होते हैं। जहाँ दूध का समुद्र है, संकल्प के अनुसार वस्तुएं देने वाले दिव्य दिव्य असंख्यों द्रुम थे। जहाँ के निवासियों को न रोग होता है, न शोक। उस पर्वत पर देवता, यक्ष, किन्नर, गुह्यक और अप्सरायें भी स्वच्छन्द विहार किया करती थीं। उस पर्वत के तीन शृंग थे। एक सुवर्ण का शृंग था दूसरा चाँदी का और तीसरा लोहे का था। इसी लिये वह त्रिकूट कहलाता था। ये तीन कूट (शृंग) तो उसके प्रधान शृंग थे। इनके अतिरिक्त भी उस विशाल पर्वत के असंख्यों शृंग थे, जिनमें नाना भाँति की धातुओं की खानें थीं, कहीं की भूमि रक्त वर्ण की थी, कहीं के पाषाण कृष्ण वर्ण के थे। कहीं के शुभ्रवर्ण के। कहीं विविध मणियों की खानें थीं, वे सूर्य की किरणों के संयोग से दिशाओं को प्रकाशित कर रहीं थीं। वहाँ के वृक्ष अत्यंत मनोहर सदा फल पुष्पों से नमित रहते थे। स्थान स्थान पर त्रिकूट पर्वत से सुन्दर स्वच्छ जल वाले झरने झर रहे थे, वृक्षों पर बैठे पक्षिगण कलरव कर रहे थे। वह विशाल पर्वत चारों ओर सागर से घिरा हुआ था मानों क्षीरसागर में कमल खिला हो। क्षीर सागर की दुग्धमयी तरल तरंगों से प्रक्षालित

उसे के पादप्रान्त की हरितवर्ण मरकतमई शिलाओं से पृथिवी कुछ श्याम वर्ण की सी प्रतीत होती थी।

वह गिरिराज शोभा का सजीव साकार स्वरूप बना हुआ था। स्थान स्थान पर उसमें कमनीय कंदरायें थीं जो सभी ऋतुओं में सुख को देने वाली थीं, जहाँ अप्सरायें अपने प्रियतमों के साथ ऐकान्तिक क्रीड़ायें किया करती थीं। कुछ कंदराओं में सिंह व्याघ्र आदि जंगली जन्तु सुख पूर्वक निवास करते थे। उनकी दहाड़ से हाथियों की चिंघाड़ से वह निरन्तर कीर्तन करता हुआ सा प्रतीत होता था। एक सिंह ने दहाड़ दी, उसकी प्रतिध्वनि कंदरा में से उठी। सिंह ने समझा समीप ही मेरा कोइ प्रतिद्वन्दी मुझे ललकार रहा है, अतः इर्ष्या और असहिष्णुता के कारण और अधिक बल लगाकर गर्जने लगा। उसकी गर्जन तर्जन को सुनकर और भी सिंह दहाड़ मारने लगे उन्हें भी भ्रम हुआ। हाथियों ने जब दहाड़ सुनी तो वे भी चिंघाड़ मारकर भागने लगे। इस प्रकार वहाँ निरंतर कोलाहल होता रहता था।

सुंदर और विस्तृत कंदरायें, उनमें रहने वाले जंगली जन्तुओं के झुंड, विविध देवद्रुमों से संकुलित देवोद्यान, उनमें विविध क्रीड़ाओं में आसक्त हुई देवाङ्गनायें। वृक्षों पर बैठे विहंगों का सुमधुर कमनीय कलरव, सुन्दर स्वच्छ स्वादिष्ट सलिल से सराबोर सर समूह, तरंग और आवर्तों से इठलाती हुइ कुटिलगामिनी सरितायें ये सब वहाँ की शोभा को सहस्रगुनी बढ़ाये हुए थीं। वहाँ के सुखस्पर्शी स्वच्छ जल में आकर निर्भय होकर देवाङ्गनाएँ स्नान करतीं, उनके कुचकुंकुम से पीत और सुगंधित हुए जल को मृग और मृग वधूटियाँ अत्यंत उल्लास के साथ पान करतीं।

उस त्रिकूट पर्वत पर वृक्षों की भरमार थी। इधर उधर अनेकों जाति के वृक्ष अपनी शोभा को बखेर रहे थे। पर्वत के ऊपर पश्चिम दिशा के लोकपाल जलों के स्वामी भगवान् वरुण का ऋतुमान नामक क्रीड़ा कानन था। जहाँ की शोभा अवर्णनीय थी। देवाङ्गनाओं की गति, विलास और अट्टहास से वह निरन्तर हँसता हुआ सा प्रतीत होता था। वहाँ के पक्षी अपने कल कूजित कंठों से क्रीड़ा कामिनियों की काम क्रीड़ाओं का समर्थन करते से प्रतीत होते थे। वहाँ के द्रुम शाखारूपी हाथों को हिलाहिलाकर क्रीड़ा प्रेमियों को अपने समीप बुला से रहे थे। वे वृक्ष सदा दिव्य दिव्य फलों और पुष्पों से सुशोभित रहते थे। उस कानन में असंख्यों प्रकार के वृक्ष थे। शाल हैं, ताल हैं, तमाल हैं, मन्दार हैं, पराजित हैं, पाटल हैं। पनस, खजूर, बिजौरा, महुआ, आम, असन, अर्जुन, अरिष्ट, पीपर, पाकर, पिचुमंद प्रियाल, बहेड़ा, वट, बेर, बेल, किंशुक, कोविदार कदली, कपूर, केला, कपित्थ, चंदन, चिरौंजी, चिरचिटा, सरल, सीसम, सेंमर, देवदारु, दाख, आँवला, अखरोट, अनार, अशोक, नारंगी, नीबू, नीम, नारियल और भी असंख्यों प्रकार के वृक्ष उस देवोद्यान को शोभायमान किये हुए थे। कमलों की तो वहाँ भरमार थी। गिरिशृंगों के जो प्रान्त सदा हिम से आवृत रहते हैं, उनमें स्थल कमल अपनी उत्कट गंध से उस द्रुम रहित स्थान को शोभायुक्त बनाये हुए थे। सरोवरों और तालाबों में जल कमल खिले हुए थे, कोई लाल, कोई सफेद, कोई नीले कोई अष्टपत्र कोई षोडश पत्र कोई शतपत्र और कोई सहस्रदल वाले कमल थे, कुमुद, उत्पल, कल्हार आदि कमलों की विविध जातियाँ थीं। उन सरोवरों के स्वच्छ जल में रंग बिरंगी मछलियाँ इधर से उधर फुदक रही थीं।

उनके आने जाने से कमल नालों के हिलने से पुष्प उसी प्रकार चंचल हो रहे थे जिस प्रकार कामी और कामिनियों का चित्त स्पर्श से चंचल हो उठता है। उन सरों के समीप हंस, कारण्ड, चक्रवाक, सारस, जलकुक्कुट, वकुल, पपीहा आदि जलाश्रित पक्षी इधर से उधर घूम रहे थे।

वहाँ झरने, नद, नदी, तालाब, सरोवर बहुत थे। किन्तु उन सब में एक सबसे बड़ा सरोवर था। उसके आस पास कदम्ब, वेत, नीप, तथा वञ्जल आदि के सुगंधि युक्त पुष्प थे। उनकी पराग जब पानी में मिल जाती और कमल की सुगंधि के साथ तन्मय हो जाती, तब वह जल अमृत से भी बढ़कर सुन्दर स्वादिष्ट और सुगन्धित बन जाता। उस सर के समीप ही लताओं के सघन कुंज थे। जाती, मल्लिका, माधवी आदि की लताएँ वृक्षों से लिपट रही थीं। इनके अतिरिक्त नाग, पुन्नाग, कुन्द, कुरवक, सुवर्ण यूथिका, पीतमल्लिका विविध रंग के पाटल अपने पुष्पों से उस भूमि को पुष्पावृत बनाये हुए थे। अधिक कहाँ तक कहें सरोवर सभी ऋतुओं में सुखकर और वहाँ के सभी सरों में सर्वश्रेष्ठ था। उसी में एक अत्यन्त बलवान् ग्राह निवास करता था। प्रतीत होता है, वह कोई पुण्यक्षीण शाप से शासित सिद्ध हो। वह इतना बड़ा था, कि योजनों लम्बा उसका शरीर था। सम्पूर्ण सरोवर को घेर कर वह उसमें निवास करता था, मानों वह उस सरोवर का सम्राट् हो।

उसी वन में एक यूथपति गजराज भी रहता था। वह हाथी क्या था चलता फिरता अंजन का पर्वत ही था। सिंह, उसे देखकर भाग जाते थे व्याघ्र उसके पास भी नहीं फटकते थे। गैंडा उसे देखकर मार्ग बदल देता था। हाथी उसे आते

देखकर मार्ग छोड़ देते थे। उसके उस वन में रहने के कारण भेड़िया, शूकर, भैंसे, रीछ, स्याही, बन्दर, भालू, लंगूर हरिन, शशक, जंगली कुत्ते तथा और क्षुद्र जीव निर्भय होकर इधर से उधर विचरते थे। जिस प्रकार ग्राह उस सरोवर का सम्राट् था उसी प्रकार यह गजराज भी मानों सम्पूर्ण वन का सम्राट् था। उसके सैकड़ों हथिनियाँ थीं और हजारों बच्चे थे। उन सब के साथ वह आनन्द से अपने दिन व्यतीत करता था। उससे सभी डरते थे, कोई उसका वन में प्रतिद्वन्दी नहीं था। सिंह उसके भय से भूखों मरते थे, किसी भी छोटे से छोटे जन्तु को पकड़ने का उनका साहस नहीं होता था। वह सदा अभिमान में चूर रहता था, उसे विश्वास था कोई भी जीव मेरा सामना नहीं कर सकता।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! मदहारी हरि सभी के मद को चूर्ण करते हैं। उनका आहार ही मद है। विशेषकर जो उनका कभी भक्त रह चुका है और उसे मद हो गया है, तब तो वे उसे छोड़ते नहीं। इन गज और ग्राह दोनों को ही अपने शारीरिक बल का बड़ा भारी मद था, ये दोनों संसार में अपने को अजेय समझते थे। श्री हरि के ये पूर्व जन्म के भक्त थे अतः प्रभु ने इनके मद को अन्त में चूर्ण करके इनका उद्धार किया।

इसपर महाराज परीक्षित ने पूछा हाँ, तो प्रभो! कैसे भगवान् ने इनका उद्धार किया। इसी प्रसंग को मुझे सुनावें।

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए श्री शुक बोले, राजन्! अब मैं यही सुनाऊँगा। आगे की कथा को आप प्रेम पूर्वक श्रवण करें।

## छप्पय

तहँ सुन्दर सर स्वच्छ सलिल युत सुखकर सुन्दर।
खिले अरुन वन कमल नील कह्लार मनोहर॥
लता तीर के निकट लिपटि द्रुम नेह दिखावें।
पुष्पित शाखा हिलहिँ मनहु कर पथिक बुलावें॥
रहँ जन्तु जल के बहुत, मत्स, सर्प, कच्छप, मगर।
तहीं ग्राह बलवान् इक, विपुल काम निवसै निडर॥

# ग्राह के द्वारा गज का पैर पकड़ा जाना

( ५०४ )

तं तत्र कश्चिन्नृप दैवचोदितो,
ग्राहो बलीयांश्चरणे रुषाग्रहीत् ।
यदृच्छयैवं व्यसनं गतो गजो,
यथाबलं सोऽतिबलो विचक्रमे ॥*
(श्री भा० ८, स्क० २ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

तिहि बन महँ गजराज बसे जनु जीवित गिरवर।
सिंह व्याघ्र भगि जायँ गन्ध तैं मृग, अहि सूकर॥
छोटे बड़े अनेक पुत्र पौत्रादिक तिहि सँग,
क्रीड़ा करें अनेक सूँड तें सूँघें पितु अँग,
इक दिन सब कूँ संगलै, जल पीवन सर ढिंग गयो।
घुस्यो सरोवर सलिल महँ, हथिनिनि सँग खेलत भयो॥

जीव जब अँधेरे में तड़पता है, अज्ञान सागर में फँसकर अपने को उससे निकालने की सोचता है तो हाथ फटफटाता

---

* श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! उस सरोवर में भाग्य के वशीभूत होकर किसी बलवान् ग्राह ने उस गज का रोष में भरकर चरण पकड़ लिया। देखो, अकस्मात् ही वह हाथी विपत्ति में फँस गया। उस अत्यत बलीगज ने यथाशक्ति उससे छूटने को बहुत बल लगाया।

है। यदि वह भाग्यशाली हुआ तो उसे किसी भक्त का चरण दैव संयोग से मिल जाता है। अपने प्रयत्न से भक्तचरण प्राप्त नहीं होता है। हरि ही कृपा करें तो घर बैठे सन्त अनुग्रह करने आ जाते हैं। घर आने पर भी प्रायः वे पानी पीकर चले जाते हैं, जिस दिन जीव हरिभक्त का चरण इतनी दृढ़ता से पकड़ ले, कि उसे शक्ति भर छोड़े ही नहीं, तभी वह संसार सागर से बाहर निकल आता है। भगवान् उसे दर्शन देते हैं और उसकी देह बन्धन से मुक्त करके अपने धाम को ले जाते हैं।

श्री शुकदेव जी महाराज परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! वह यूथपति अपनी सैकड़ों हथिनियों के साथ तथा सहस्रों पुत्र पौत्रों को लिये हुए उस समुद्र के समान विस्तीर्ण सरोवर में जलपान तथा क्रीड़ा करने के निमित्त गया। हाथियों को उष्णता बहुत कष्ट देती है। ग्रीष्म ऋतु में उसे जल में अत्यन्त सुख मिलता है। यूथपति को किसी का भय तो था ही नहीं। सिंह व्याघ्र उसे देखकर भाग जाते थे। गैंड़े उसकी परछाँई से डरते थे। उसके प्रबल प्रभाव से अन्य छोटे मोटे हाथी, मृग, शशक भेड़िये, भैंसे, शूकर, स्याही, चमरी गौएँ, रीछ, कुत्ते, बंदर, पशु पक्षी सर्प तथा अन्य भी जीव जन्तु निर्भय होकर इधर से उधर विचरते थे।

वह यूथपति मदोन्मत्त होकर पथ में चलता था, बड़े बड़े वृक्षों की शाखाओं को सूँड़ से तोड़ डालता, लताओं को मरोड़ डालता, झाड़ियों को रौंदता हुआ बाँसों का चकना चूर करता हुआ वह चलता था, कमल की गंध से उसकी उत्सुकता और भी बढ़ गई थी। उसके गंडस्थलों से मद बह कर उसके कपोलों को गीला करता हुआ भूमि पर गिर रहा था, उसकी गन्ध से हथिनियाँ और भी उन्मत्त सी बनी हुई थीं। अपनी हथिनियों

तथा पुत्र, पौत्र, पुत्री तथा पौत्र पौत्रियों से घिरा हुआ वह सैकड़ों शृंगवाले चलते फिरते पर्वत के समाने दिखाई देता था। बच्चे अपनी चंचल प्रकृति के कारण उसके आगे दौड़े जा रहे थे। हथिनियाँ उसके पीछे चल रही थीं। कुछ युवा पुत्र, पुत्रियाँ आस पास उसे घेरे हुए थे, वह सबको लिये हुए द्रुत गति से सरोवर की ओर जा रहा था। प्यास और घाम के कारण उसका मुख क्लांत हो रहा था।

कुछ ही काल में वह सरोवर के समीप पहुँच गया। स्वच्छ, निर्मल काँच के समान चमचमाते. उस शीतल सुगन्धित पद्मकी केशर सुवासित जल में घुस कर उसने यथेष्ट स्नान किया। पेट भर के जल पिया। जब उसकी तृप्ति हो गई, तब उसे क्रीड़ा की सूझी। किसी बच्चे को उठाकर जल में पटक देता, किसी को ढकेल देता, किसी पर पानी ही उड़ेल देता। सूँड़ में भर भर-कर उसने अपनी हथिनियों को नहलाना आरम्भ कर दिया कभी किसी की सूँड़ में सूँड़ डालकर उसके मुँह में बहुत सा जल भर देता कभी किसी की आँखों में जल छोड़ता। हथिनियाँ उसे चारों ओर से घेर कर उसके ऊपर जल की धारायें छोड़तीं, सूँड़ में जल भर भरकर उसके ऊपर उड़ेलतीं, वह सबकी सहता और सब को अपनी विचित्र क्रीड़ा से हँसाता था। सब हंस रहे थे, खेल रहे थे, आनन्द का सागर उमड़ रहा था सब प्रेम में अपने आप को भूले हुए थे, सभी आत्म विस्मृत से बने जल क्रीड़ा का आनन्द लूट रहे थे। इस बात को वे भूले हुए थे, कि हँसने का परिणाम रोना है—सुख का पर्यवसान दुख में है। उत्थान का अन्त पतन में है। जिस प्रकार बहुत से पौत्रों वाला गृहस्थ भगवान् की माया से मोहित होकर उन्हीं के लिये सटर पटर करता रहता है, उन्हीं की सर्वदा चिंता में

निमग्न रहता है। उसी प्रकार वह यूथपति द्विप भी क्षण भर में आने वाले कष्ट से अपरिचित था, वह तो हथिनियों को हँसाने में, उनके ऊपर जल के फुहारे छोड़ने में, बच्चों को हँसाने, खिलाने, और रिझाने में लगा हुआ था।

संयोग की बात कि उस महा सरोवर में रहने वाला वही द्वीप के समान बृहत्काय ग्राह चट्ट से वहाँ आगया और पट्ट से

उस पहाड़ सदृश हाथी का पैर पकड़ लिया। हाथी को तो

गर्व था, कि मुझे कौन पकड़ सकता है, मेरा कौन सामना कर सकता है। स्थल में उसका वह गर्व संभव हो सकता था, किन्तु जल में उसका वह गर्व चकनाचूर हो गया। गज ने ग्राह से छूटने को शक्ति भर सब उपाय किये। उसे अपने बल का, परिवार का, प्रेम का, प्रभाव का, पुरुषार्थ का, प्रतिभा का तथा अन्याय गुणों का बड़ा भरोसा था। एक एक करके आज उसने सबकी परीक्षा की। पहिले तो उसने स्वतः ग्राह की अवज्ञा करके अपनी पूरी शक्ति लगाई, किन्तु ग्राह टस से मस भी न हुआ हाथी अपने को छुड़ा न सका। समीप में ही खड़ी हथिनियाँ, तथा बच्चे चिंघाड़ रहे थे, रो रहे थे, बिलबिला रहे थे, छटपटा रहे थे, अपने यूथपति के लिये आँसू बहा रहे थे, किन्तु उनका रोना धोना व्यर्थ था। तब गजराज ने साहस करके अपनी भाषा में सब को डाँटते हुए कहा—"रोने धोने से क्या होगा, कुछ उद्योग करना चाहिए। एक काम करो, यहाँ जल में खड़े खड़े मैं पूरा बल नहीं लगा सकता। बच्चों को एक ओर करदो। एक युवक मेरी सूँड़में सूँड़ डालो दूसरा उसकी पूछ को अपनी सूँड़से कसले ऐसे ही एक दूसरे से कसकर शृंखलाबद्ध हो जाओ तीर पर जाकर सब मिलकर बल लगाओ। मैं भी बल लगाऊँगा इस प्रकार इस ग्राह को लिये हुए ही हम सम्मिलित शक्ति से बाहर हो जायँगे बाहर पहुँच कर इसे मार डालेंगे।"

अन्य हाथियों और हाथिनियों ने ऐसा ही किया, वे सब मिलकर ग्राह को खींचने लगे, किन्तु आश्चर्य की बात कि बाहर निकलना तो पृथक रहा ग्राह सबको और गंभीर जल में खींचने लगा। जब अन्य हाथियों ने देखा, इसके साथ तो हम भी जा रहे हैं, तुरन्त वे प्राणों के लोभ से उसे छोड़कर भाग गये। गज अब अकेला रह गया। उससे यूथ के इतने व्यक्ति विपत्ति में

कुछ भी काम न आये। वह मृत्यु की घड़ियाँ गिनने लगा। उसकी बुद्धि कुंठित हो गई पुरुषार्थ नष्ट हो गया, उत्साह शिथिल पड़ गया, कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने में वह असमर्थ हो गया। ग्राह तो जल का ही जन्तु था, वह तो अपने घर में ही था, उसका तो दिन दिन बल बढ़ता जाता था, किन्तु यह तो स्थल का जीव था, पानी के अतिरिक्त कोई आहार भी नहीं था, दूसरे ग्राह के फँदे में फँसा था, इसका बल नित्य क्षीण होता जाता था। इस प्रकार उसे ग्राह से युद्ध करते करते सहस्र वर्ष बीत गये, अर्थात् बहुत समय हो गया। देवता, दानव तथा अन्य जीव जन्तु विपत्ति में भी उसके ऐसे साहस को देखकर अत्यधिक विस्मित हुए।

गज को जब पूर्ण निश्चय हो गया कि अब मेरा बल पुरुषार्थ कुछ भी काम न देगा, तब पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण उसको एक सद्बुद्धि उत्पन्न हुई। उसने सोचा—"मैं अपनी पूरी शक्ति लगा चुका। जिन साथी, संगियों, पुत्र पौत्रों का भरोसा था, वे भी मुझे विपत्ति में फँसा देखकर भग गये। अब मैं सर्वथा असमर्थ हो चुका हूँ। अब तक मैं अपने को सबल समझता था अब मैं निर्बल बन चुका हूँ। मैंने सुना है निर्बल के बल राम हैं, क्यों न मैं उन्हीं राम की शरण में जाऊँ क्यों न उन्हीं के गुण गाऊँ, क्यों न उन्हें ही अपने स्तोत्रों से रिझाऊ, क्यों न उन्हे ही रोकर अपनी सहायता के लिये बुलाऊँ।"

परमहंस चूड़ामणि भगवान् शुकदेव महाराज परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! ऐसी सद्बुद्धि उत्पन्न होने पर गज को एक नूतन स्फूर्ति मिली। उसके उत्साह की वृद्धि हुई। उसने अपने बल पुरुषार्थ का सहारा छोड़ दिया, जीवन मरण की आशा में सम भाव रखकर वह देवाधिदेव भगवान् की भक्ति

भाव से स्तुति करने को प्रस्तुत हुआ। सब ओर की आशाओं को छोड़कर उसने एक मात्र श्री हरि में ही अपनी समस्त चित्त की वृत्तियों को केन्द्रित कर दिया। वह गद्गद् कंठ से आंखों से अश्रु विमोचन करता हुआ, भव भयहारी भगवान् की स्तुति करने लगा।

छप्पय

कबहूँ जल भरि सूँड़ बधुनि के अंग उड़ेलै।
कबहूँ मारै हुड्डु पकरि कैं दूरि ढकेलै॥
यों है कैं मदमत्त ज्ञान विज्ञान बिसार्यो।
कुंजर करत कलोल काल नहिं निकट निहार्यो॥
चट आयो तहँ ग्राह इक, पट्ट पैर पकर्यो जकड़ि।
कछु न गिन्यो बल दपँतैं खींचे तिहि पुनिपुनि अकड़ि॥

---

## गज की भगवत् स्तुति ।

[ ५०५ ]

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम् ।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयात्,
मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि ॥*
(श्री भा० ८ स्क० २ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

पूरो करयो प्रयल यथामति शक्ति लगाई ।
करी अनेकों युक्ति एक हू काम न आई ॥
ग्राह सलिल को जन्तु बढ़े नित नित यह बल महँ ।
भगे संग के छोड़ि होहि गज निर्बल जल महँ ॥
अन्य शरन जब नहिं लखी, शरण गही घनश्याम की ।
करे शिथिल साधन सबहिं, टेर करी हरि नाम की ॥

जीव जब तक अपने बल भरोसे रक्षा चाहता है, तब तक

---

*गजराज भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहा है—"मैं उसका नाम रूप नहीं जानता जो भी कोई ईश्वर है, जो प्रचण्ड वेग से काल रूप बली सर्प के भय से भयभीत होकर भागते हुए शरणागत व्यक्तियों का परिपालन करता है। मृत्यु भी जिसके भय से भाग जाता है, उसी प्रभु की शरण में हम प्राप्त हैं।

उसकी रक्षा नहीं होती। जब सब कुछ भूल कर त्राण का अन्य उपाय न लखकर अशरण शरण की शरण में जाता है, जब सर्वात्मभाव से अपने को उन्हीं के ऊपर छोड़ देता है, तब वह निर्भय हो जाता है। सर्वत्र जीव को मृत्यु का ही भय है। जो स्वयं मरणधर्मा हैं, जिनका स्वयं एक दिन विनाश अवश्यम्भावी है, वे दूसरे की रक्षा कैसे कर सकते हैं? अमृतत्व की प्राप्ति तो अजन्मा अखिलेश श्री हरि की ही शरण में जाने से ही हो सकती है।

श्री शुकदेव जी कह रहे हैं—"राजन्! जब सब ओर से निराश होकर गज ने अपने हृदय में हृदयेश श्रीहरि का ही ध्यान करना निश्चय किया, तब वह दिव्य स्तोत्र से श्रीहरि की स्तुति करने लगा।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! हाथी कैसे स्तुति कर सकता है? वह न पढ़ा न लिखा, पशु होकर वह शुद्ध संस्कृत में स्तोत्रों द्वारा भगवान् की स्तुति करे, यह बात तो असंभव सी जान पड़ती है।"

इसपर श्रीशुक बोले—"महाराज, असंभव कोई बात नहीं। भगवान् की सृष्टि में सब सम्भव है। शुक कितनी शुद्ध मनुष्य वाणी बोलता है, शुक से भी सुन्दर बड़ा तोता जो विविध रंगों का होता है, वह बोलता है। आप जो कहें तुरन्त उसे ज्यों का त्यों सुना देता है। यह हाथी यद्यपि इस जन्म में पढ़ा नहीं था, किन्तु पूर्वजन्म में इसने भगवान् की ही उपासना की थी। राजन्! शुभ कर्मों का फल कभी नष्ट नहीं होता। इसलिये गज को इस समय विपत्ति में पूर्वजन्म की विद्या स्मरण हो आई। जैसे वह पूर्वजन्म में भगवान् की

स्तुति करता था, भगवत् कृपा से वैसे ही वह स्तुति करने लगा।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज! पहिले क्यों नहीं इसे स्मरण हुआ?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! पहिले तो वह अपने बल, पुरुषार्थ प्रभाव के मद में उन्मत्त था। पूर्वजन्म का स्मरण तप से होता है। एक सहस्र वर्ष पर्यन्त बिना कुछ खाये वह जल में खड़ा रहा, यही उसकी महान् तपस्या हो गई। फिर उसने अपना समस्त बल पुरुषार्थ प्रभु पाद पद्मों में समर्पित कर दिया। सर्वतोभावेन उसने आत्मसमर्पण कर दिया तब तो पूर्वजन्म की स्मृति होनी ही चाहिये। इसीलिये उसने इतने अद्भुत स्तोत्र से भगवान् की स्तुति की, कि कोई भी दुख में फँसा प्राणी, सच्चे हृदय से भगवान् की उस स्तोत्र से विनती करेगा, तो उसका दुःख अवश्य ही दूर हो जायगा।"

यह सुनकर शौनक जी ने कहा—"सूत जी! उस दिव्य स्तोत्र को आप हमें भी सुनावें।"

इसपर सूतजी बोले—"भागवती समस्त दिव्य स्तोत्रों को मैं एक साथ ही सुनाना चाहता हूँ, अतः आप इस समय अपने उस अद्भुत स्तोत्र को श्रवण करने के लोभ को संवरण करें। आगे की कथा को सुनें। वह तो नित्य पठनीय स्तोत्र है।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"अच्छी बात है कथा ही कहिये। कथा भी तो अमृत तुल्य है।"

सूत जी बोले—"मुनियो! गज ने अपने सूँड़ में एक नाल सहित कमल लेकर अत्यन्त ही आर्त वाणी में सर्वान्तर्यामी अखिलेश श्रीहरि की स्तुति की और स्तुति के अन्त में कहा—"प्रभो! आप यह न समझें कि मैं जीवित रहने के

निमित्त यह स्तुति कर रहा हूँ। ऐसी बात नहीं भगवन्! इस तमोमय अज्ञान से आवृत हाथी की योनि में मुझे सुख ही क्या है। इस योनि में तो मेरा ज्ञान नष्ट हो गया है। आत्म-प्रकाश से हीन होकर मैं पशु योनि में जीकर क्या करूँगा? हे सर्वान्तर्यामिन्! मैं तो अज्ञान से मुक्त होना चाहता हूँ। इसी निमित्त मैं इस विश्व के कर्ता भर्ता, संहर्ता सर्वान्तर्यामी अच्युत की स्तुति कर रहा हूँ, जो विश्व रूप होते हुए भी विश्वातीत हैं। यह विश्व जिन की क्रीड़ा का उपकरण मात्र है, जो अजन्मा होते हुए भी विश्वात्मा हैं उन परात्पर प्रभु का मैं स्मरण करता हूँ। जिनकी माया से आवृत होकर अहंता ममता के वशीभूत होकर जीव जिनके यथार्थ रूप को नहीं जान सकता, उन अपरिमेय शक्ति वाले महामहिम महेश्वर के पाद पद्मों में मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! गजेन्द्र ने किसी एक देव का नाम नहीं लिया उसने निर्विशेष भाव से भगवान् की स्तुति की। इन्द्र त्रिलोकेश कहाते हैं, अतः देवताओं ने कहा—"विभो! आप जाकर उस भयग्रस्त गज का उद्धार करें।"

इन्द्र ने कहा—"भाई, उसने एक बार भी वृत्रहन्ता, वज्रधारी, शचीपति, नाकपति तथा शतक्रतु आदि मेरा एक भी नाम तो लिया नहीं मैं उसकी रक्षा करने कैसे जा सकता हूँ?"

तब देवताओं ने प्रजापति ब्रह्मा जी से कहा। ब्रह्माजी ने कहा—"उसने न कमलासन कहा, न चतुर्मुख न ब्रह्मा और न विधि, मैं उसकी रक्षा के लिये कैसे जा सकता हूँ?"

देवताओं के लिये एक कुतूहल हो गया, उन्होंने शिवजी

से कहा। शिवजी ने कहा—"यद्यपि मैं महादेव हूँ। किन्तु पता नहीं, वह किस देव को बुला रहा है। मैं गया और कोई दूसरा देव भी आ गया तो हम में ही कहा सुनी हो जायगी। अतः वह तो निर्विशेष देव की स्तुति कर रहा है।

देवता दौड़े दौड़े हरि भगवान् के समीप पहुँचे और जाकर उनकी स्तुति करने लगे। उन्होंने देखा भगवान् बड़े व्यग्र हैं। उन्होंने उसी क्षण गरुड़ का आवाहन किया था। गरुड़जी भी व्यग्र हुए उड़ने को समुत्सुक थे। भगवान् को और उनके वाहन विनतानन्दन गरुड़ को इस प्रकार व्यग्र देखकर देवताओं को कुछ भी कहने का साहस नहीं हुआ। वे एक ओर खड़े होकर हरिणीनन्दन भगवान्हरिमेधा आनन्दवर्धन प्रभु की स्तुति करने लगे। उनकी स्तुति की ओर ध्यान न देकर भगवान् अत्यन्त ही शीघ्रता के साथ गरुड़ जी की पीठ पर सवार हुए। गरुड़ जी वायु वेग का भी तिरस्कार करके मनोवेग के सदृश उड़े। देवता भी पीछे पीछे स्तुति करते हुए बंदियों की भाँति अपने अपने विमानों पर चढ़ कर प्रभु का अनुगमन करने लगे।

छप्पय

हे हरि ! असरन शरन दीन दुख मेटन हारे।
हे करुना के अयन ! प्रनत-प्रन पालन वारे॥
आइ ग्रस्यो तम ग्राह सच्चिदानन्द उबारो।
कैसे हू करि कृपा कष्ट हरि हरो हमारो॥
निर्विशेष विनती सुनी, नहिँ आये सुर अन्य जब।
गरुड़ध्वज चढ़ि गरुड़ पै, आये गज ढिँग तुरत तब॥

# गज और ग्राह का उद्धार

(५०६)

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशुसरसः कृपयोज्जहार।
ग्राहाद्विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रम्
संपश्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम् ॥*
(श्री भा० ८ स्क० ३ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

विनती गद् गद् कंठ करै नयननि कूँ मूँदे।
गजकूँ निरख्यो विकल गरुड तैं श्री हरि कूदे॥
एक हाथ तैं पकरि ग्राह सँग गजहिं उबार्यो।
जल तैं बाहर कर्यो चक्र तैं मुहड़ो फार्यो॥
नयनानंद निहारि हरि, शान्ति हृदय गज के भई।
भवभयहारी विष्णु ने, मुक्ति ग्राह हू कूँ दई॥

हरि तब तक प्रकट नहीं होते, जब तक जीव को अपने पराये या और भी किसी के बल पौरुष की आशा रह जाती

---

*श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! अजन्मा श्री हरि गज को अत्यन्त पीडित देखकर सहसा गरुड़ से उतर पड़े। और अत्यन्त ही कृपा पूर्वक उसे ग्राह सहित तुरन्त सरोवर से बाहर निकाल लिया। फिर समस्त देवताओं के देखते देखते भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से नक्र का मुख फाड़कर गज का उद्धार किया।

है। भगवान् तब प्रकट होते हैं जब मनुष्य अनन्य हो जाता है। श्वेतद्वीप में जो जाता है, उसे ही भगवान् के दर्शन होते हैं, क्योंकि भगवान् वहाँ नित्य ही अपने दिव्य रूप से निवास करते हैं। एक बार एकत, द्वित और त्रित नामक तीन महर्षि अपनी तपस्या के प्रभाव से श्वेतद्वीप में पहुँच गये। वहाँ के रहने वाले जन सभी चतुर्भुज होते हैं, सभी के हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म रहते हैं। इन तीनों महर्षियों ने वहाँ के निवासी पुरुषों के तो दर्शन किये; किन्तु श्वेतद्वीप में जाने पर भी उन्हें भगवान् के दर्शन नहीं हुए। तब तो उन्होंने आश्चर्य चकित होकर इसका कारण पूछा। कुछ भी उत्तर न मिलने पर वे बड़े चिन्तित हुए। तब आकाश वाणी हुई, कि तुम्हारी मुझमें अनन्य अनपायिनी भक्ति नहीं है। अब तुम मेरे इस लोक से लौट जाओ, इस लोक के और यहाँ के निवासियों के दर्शन हो गये यही तुम्हारे तप का फल पर्याप्त है। वे सब लोग लौट आये। इसके पश्चात् नारदजी गये। उन्हें जाते ही भगवान् के दर्शन हुए। उन्होंने इसका कारण पूछा तो भगवान् ने बताया तुम्हारा मेरे प्रति अनन्य भाव है, इसीलिये तुम्हें सरलता से मेरे दर्शन हो गये। उन ऋषियों को कुछ अन्य इच्छायें भी थीं, कुछ मेरी भी इच्छा थी, ऐसी मिली जुली भक्ति से मेरा प्रसाद प्राप्त करना दुर्लभ है। अहैतु की अव्यभिचारिणी अनन्य भक्ति से मैं प्रसन्न होता हूँ।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गजेन्द्र को पूर्वजन्म का ज्ञान हो गया था। अब वह कुटुम्ब, परिवार, पुत्र, पौत्र यहाँ तक कि इस गज शरीर से भी विरक्त हो गया था। उसकी डोरी श्यामसुन्दर के चरणों में लग रही थी। शनैः शनैः उसकी सब वासनायें क्षीण हो गई थीं, सब ओर से

आशा टूट चुकी थी। जब बल घट गया, और ग्राह उसे निर्बल समझ अथाह जल में खींच कर ले जाने लगा, तब गज का सब शरीर डूब गया। केवल सूँड़ डूबने से शेष रह गई थी। हाथी की जब तक सूँड़ नहीं डूबती, तब तक वह कितने भी अथाह जल में चला जाय, उसे कोई भय नहीं। अब तो सूँड़ भी डूबने लगी, अनन्यता बढ़कर पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। जौ भर सूँड़ डूबने को शेष थी। गजराज ने समझा अब तो प्राण गये, अन्त समय मुख से भगवान् का नाम उच्चारण हो जाय, तो समस्त साधना पूरी हो जाय। यही सोचकर उसने कमल उठाकर नारायण नाम ज्योंही लिया त्योंही उसे आकाश में गरुड़ पर चढ़े चतुर्भुज श्रीहरि भगवान् के दर्शन हुए। अब क्या था, गज का हृदय पुलकित हो उठा। उसने सोचा—"भगवान् तो अभी आकाश में बहुत दूर हैं, गरुड़जी उतरते उतरते ही उतरेंगे तब तक मैं तो डूब ही जाऊँगा। क्योंकि अब डूबने में पल भर का भी विलम्ब नहीं। सर्वान्तर्यामी प्रभु उसके मनोगत भाव को समझ गये। गरुड़ जी की पीठ में बार बार ऐड़ मारने लगे। गरुड़जी इतने वेग से उड़ने के कारण थक गये थे। अतः भगवान् वहीं से गरुड़ की पीठ पर से सरोवर के बीचोंबीच कूद पड़े और हाथी के पिछले पैर को पकड़ कर इतने वेग से खींचा कि गज को लिये हुए ग्राह को किनारे ले आये। वहाँ आकर चक्र सुदर्शन से नक्र के मुख को फाड़ दिया। मुख फटते ही पैर बाहर निकल आया। गज का बन्धन छूट गया। "बोल दे बन्धन हारी हरि की जय।" जय जयकार से आकाश गूँज उठा देवताओं ने पुष्पों की वृष्टि की, दुन्दुभी बजाई। अप्सरायें नृत्य करने लगीं, गन्धर्व गाने लगे। सर्वत्र आनन्द उत्साह छा गया। ऋषि,

मुनि, सिद्ध तथा चारण आदि आ आ कर भगवान् के प्रबल

पराक्रम की और भक्त वत्सलता आदि गुणों की गाकर स्तुति करने लगे।

राजा ने पूछा—"प्रभो! गज तो भगवान् का भक्त था, उसका तो उद्धार होना ही था, किन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ, कि जिसने भगवद् भक्त का पैर पकड़ा था उसकी क्या

दशा हुई। क्या भक्त का पैर पकड़ने वाला मरकर नरक में गया ?

यह सुनकर श्री शुकदेव जी हँस पड़े और बोले—"राजन्! भगवद् भक्तों के पैर पकड़ने वालों की भला कभी दुर्गति हो सकती है। वह उसी क्षण दिव्य रूप धारण करके और सुवर्ण के समान चमचमाते विमान पर चढ़कर तुरन्त निष्पाप होकर गन्धर्व लोक को चला गया।

इस पर महाराज ने पूछा—"प्रभो! यह ग्राह कौन था? किस कारण इसे ग्राह योनि प्राप्त हुई यह गन्धर्व लोक को क्यों गया? मैं इसके पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ।

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! यह ग्राह पूर्व जन्म में गन्धर्वों में श्रेष्ठ हूहू नामक गन्धर्व था। हाहा और हूहू ये दो गन्धर्व गायन में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। एक दिन हूहू गन्धर्व गंगाजी में अपनी स्त्रियों के साथ जल विहार कर रहा था। मद में मत्त हुआ वह अपने आपे को भूले हुए था। अनेक प्रकार से मुँह बना कर वह स्त्रियों को हँसा रहा था। नाना प्रकार से जल के छींटे डालकर उन्हें प्रसन्न कर रहा था। उसकी गन्धर्वियाँ भी मद में मदोन्मत्ता बनी उसके साथ हँस रही थीं, खेल रही थीं, नाना प्रकार की उसके साथ काम क्रीड़ायें कर रही थीं, समीप में ही महर्षि देवल सन्ध्या वन्दन कर रहे थे। उस कामी को एक कुतूहल सूझा। उसने सोचा जल के भीतर शनैः शनैः जाकर मुनिका पैर पकड़ लें। इससे वे अपनी दाढ़ी जटाओं को हिलाकर चौंक पड़ेंगे। उनके चौंकने पर मेरी ये स्त्रियाँ खिलखिला कर हँस पड़ेंगी, बड़ा आनन्द आयेगा। अति सुन्दर विनोद होगा। यही सोचकर वह डुबकी मार कर जल के भीतर ही भीतर गया और मुनि का पास कर पैर पकड़

लिया। मुनि सूर्य का उपस्थान कर रहे थे। पैर पकड़ते ही चौंक पड़े। उनके चौंकते ही गन्धर्व निकल आया। स्वयं भी हँसने लगा और उसकी गन्धर्विणी भी हँस पड़ीं।"

मुनिको उसकी इस अवज्ञा पर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने तुरन्त शाप दे ही तो डाला—"तैंने ग्राह की भाँति आकर मेरा पैर पकड़ा है अतः तू ग्राह होजा।"

हँसी में खँसी होगई, रङ्ग में भंग पड़ गया। गन्धर्व को अपनी भूल मालूम हुई, किन्तु अब होता क्या है, बाण तो धनुष से छूट चुका था, वह लक्ष्य भेद किये बिना लौटने वाला नहीं। गन्धर्व का मुख फक पड़ गया। उसने हाथ जोड़कर बिनती की, "प्रभो! मैंने यह सब विनोद में किया था।"

मुनि ने सूखी हँसी हँसकर कहा—"विनोद बराबर वालों से किया जाता है। जो सन्ध्या में मग्न हों, अपने से ज्येष्ठ हों उनसे असमय में ऐसा विनोद उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं किया जाता। मैंने तो कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोला अतः मेरा वचन मिथ्या नहीं हो सकता।"

दीनता के स्वर में हूहू गन्धर्व ने कहा—"महाराज मेरे उद्धार का कोई उपाय बतादें।"

मुनिका क्रोध शान्त हो चुका था। इन ब्राह्मणों के वचन वज्र के समान होते हैं, हृदय नवनीत से भी अधिक कोमल होता है, क्रोध इनका पानी की लकीर के समान होता है। आया और मिट गया। मुनि उसकी बिनती पर प्रसन्न होगये और बोले—"अच्छी बात है, ग्राह तो तुझे होना ही पड़ेगा, किन्तु अन्त में जब तू किसी गज का पैर पकड़ेगा तब भगवान् स्वयं साक्षात् चतुर्भुज रूप से तुझे दर्शन देंगे। तब तू उनके दर्शनों से निष्पाप

होकर उस तमोगुणी योनि को त्यागकर पुनः अपना दिव्य रूप प्राप्त करेगा।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वही हूहू गन्धर्व भगवान् के चक्र के स्पर्श से पाप मुक्त होकर आश्चर्यमय दिव्य शरीर वाला गन्धर्व होगया। उसने उत्तमश्लोक कीर्तिधाम, अविनाशी, कीर्तनीय गुणवाले जगदीश्वर के पाद पद्मों में प्रणाम करके उनके सुयश का गान किया। भगवान् उसके गायन से अत्यंत प्रसन्न हुए उसे अभीष्ट वर दिया। वह भी प्रभु प्रसाद और दिव्यरूप प्राप्त करके निष्पाप होकर अपने धामको चला गया। राजन्! यह मैंने ग्राह के पूर्व जन्म का वृत्तान्त कहा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?

छप्पय

ग्राह योनि तजि भयो तुरत गन्धर्व मनोहर।
पूर्व जन्म महँ करत रह्यो क्रीड़ा जल अन्दर॥
देवल मुनि को चरन हँसी महँ हूहू पकरयो।
चौंके मुनि ह्वै भीत तबहिँ हँसि बाहर निकरयो॥
समुझि अवज्ञा शाप तब, ग्राह बनन को दै दयो।
सुरगायक गन्धर्व सो, नक्र शाप वश ह्वै गयो॥

# गजेन्द्र के पूर्व जन्म का वृत्तान्त।

[ ५०७ ]

गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद् विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात्।
प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः॥
स वै पूर्वमभूद्राजा पाण्ड्यो द्रविडसत्तमः।
इन्द्रद्युम्न इति ख्यातो विष्णुव्रतपरायणः॥*
(श्री भा० ८ स्क ४ अ ६, ७ श्लो०)

छप्पय

पूर्व जन्म गज चरित मुनीं श्रद्धातैं अब तुम।
इन्द्रद्युम्न द्रविडेश हतो, यशा सुरपति सम॥
ध्यान मग्न इक दिवस रह्यो मलयाचल माहीं।
शिष्यनि सहित अगस्त्य गये नृप निरखे नाहीं॥
करै तपस्या मौन ह्वै, बाल बढ़े व्रत महँ निरत।
अतिथि धर्म तैं च्युत निरखि, मुनि अगस्त्य कोपे तुरत॥

अतिथि धर्म की शास्त्रकारों ने बड़ी प्रशंसा की है। अतिथि

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! भगवान् का स्पर्श होते ही गजराज अज्ञान बन्धन से विमुक्त हो गया। वह चतुर्भुजी और पीताम्बर धारी होकर भगवत् रूप को प्राप्त हो गया। महाराज! यह पूर्वजन्म में द्रविड सत्तम, पांड्य देश का प्रख्यात इन्द्रद्युम्न नाम का राजा था और सदा भगवान् विष्णु सम्बन्धी व्रत उपासना में तत्पर रहता था।

को मनुष्य समझना पाप है। अतिथि तो भगवान का स्वरूप है। भगवत् बुद्धि से ही उसकी पूजा करनी चाहिए। जो अभिमान में भरकर अपने तप, तेज, प्रभाव बड़प्पन आदि के कारण अतिथि का अपमान करते हैं, वे उस अपराध से अधोगति को प्राप्त होते हैं। अतिथि जब भी आ जाय तब ही उसका सत्कार करना चाहिये। जप, तप, पूजा, पाठ सब अतिथि के लिये है। यदि हमारी सेवा से अतिथि सन्तुष्ट हो गया, तब तो हमारे सब साधन सार्थक हैं और यदि हमारे किसी भी व्यवहार से अतिथि रुष्ट हो गया, तो समझो हमारा सब कुछ किया कराया निरर्थक हो गया।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! मैंने तुम्हें ग्राह के पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुना दिया, देवल मुनि के शाप से हूहू गन्धर्व ही ग्राह बन गया था। आज भगवान् का स्पर्श पाते ही वह इस अधम योनि को त्याग कर दिव्य पुरुष बन गया।"

इस पर राजा ने कहा—"भगवन्! ग्राह का तो पूर्व चरित आपने सुनाया, किन्तु यह नहीं बताया, वह परम भागवत गजेन्द्र पूर्व जन्म में कौन था? महाराज! यह भी कोई पुण्यात्मा सुकृति ही रहा होगा, नहीं तो महातमोमय गज योनि में इस प्रकार की अनन्य भावना असंभव ही है।"

यह सुनकर श्री शुक बोले—"राजन्! मैं गजेन्द्र के पूर्व जन्म का वृत्तान्त आपको सुनाता हूँ, आप इसे सावधान होकर श्रवण करें। यह परम पुण्यप्रद यश को बढ़ाने वाला भगवद् भक्ति वर्धक आख्यान है। महाराज! पूर्वकाल में दक्षिण देश के पांड्य नाम के देशों में एक बड़े ही यशस्वी राजा थे। द्रविड देश में वे नरपति बड़े ही यशस्वी, तेजस्वी, तपस्वी और विष्णु-

भक्त माने जाते थे। उनका नाम था इन्द्रद्युम्न। वे बहुत काल तक अपनी प्रजा को पुत्र की भाँति पालन करते रहे। जब उन्होंने देखा मेरी आयु ढल रही है, तो राज्य को पुत्र को सौंप कर वे तपस्या करने मलयाचल के पुण्य प्रदेश में चले गये जहाँ भगवान् का नित्य निवास है, जो दक्षिण देश मे परम पुण्य प्रद तीर्थ समझा जाता है, ऐसे पर्वत पर जाकर पृथिवी-पति वानप्रस्थ होकर तपस्या करने लगे। मलयाचल के मनोहर प्रान्त में जहाँ सुन्दर सुस्वादु सलिल के झरने झर रहे हैं, जहाँ की पत्तियाँ भी मधुर हैं उसी देश में रह कर वे घोर तप करने लगे। उन्होंने ग्राम्य आहार का परित्याग कर दिया था। कन्द मूल फलों पर वे निर्वाह करते थे; बाल न बनवाने के कारण उनकी जटायें बढ़ गई थीं। मौनी व्रत कर वे निरन्तर जप में निरत रहते थे।

एक दिन महाराज प्रातः कालीन नित्य कर्मों से निवृत्त होकर एकान्त में बैठकर वाणी का संयम करके सर्वान्तर्यामी श्री हरि की आराधना कर रहे थे। उसी समय दैवयोग से घूमते घामते समुद्र को सोख लेने वाले महातपस्वी भगवान् अगस्त्य मुनि अपने शिष्यों सहित वहाँ आ गये। राजा ने आते हुए मुनि को देख कर भी नहीं देखा। महाराज को यह तो विदित हुआ कि कुछ ऋषि मुनि आये हैं, किन्तु यह सोचकर कि मैं तो भगवान् की आराधना कर रहा हूँ, ऐसे अवसर पर उठना उचित नहीं। यही सोचकर वे चुपचाप बैठे रहे। प्रतीत होता है, महर्षि धूप में थके हुए इस आशा से आये थे, कि राजा हमारा अतिथि सत्कार करेंगे, कन्द मूल फलों को अर्पित करके सम्मान प्रदर्शित करेंगे। वह सब होना तो दूर रहा, राजा ने वाणी से भी सत्कार नहीं किया।

इस पर मुनि को बड़ा क्रोध आगया। उन्होंने क्रोध में भरकर राजा को शाप देते हुए कहा—"अरे मूढ़! हमारे आने पर भी तू हाथी की भाँति बैठा ही रहा, अतः जा तू हाथी हो जा।" इतना कह कर अगस्त्य मुनि फिर वहाँ क्षण भर भी नहीं ठहरे। अपने साथियों के सहित शीघ्र ही उस स्थान से अन्यत्र चले गये।

राजा ने मुनि का शाप सुना, उन्हें क्रोध में भरकर जाते हुए भी देखा, किन्तु न तो राजा ने उन्हें रोका और न उनसे शाप विमोचन के लिए अनुनय विनय की। राजा ने सोचा—"देखो, यह लोकोक्ति सत्य ही है, कि 'हवन करते हाथ जलते हैं" कहाँ तो मैं घर द्वार, कुटुम्ब परिवार तथा राजपाट परित्याग करके यहाँ जंगल में एकान्त में आराधना करने के निमित्त आया था। कहाँ यहाँ भी मेरे सिर पर शाप का पहाड़ टूट पड़ा। सत्य ही है प्रारब्ध को मेंटने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। इसमें भी मंगलमय भगवान् का कोई शुभ विधान ही है।"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी! यह तो आपने बड़ी अद्भुत कथा सुनाई। महाभाग महाराज इन्द्रद्युम्न का अपराध ही क्या था, भगवान् की आराधना कर रहे थे। इसी पर मुनि ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दे दिया।"

इस पर परीक्षित् जी बोले—"भगवन्! आप सब जानते हैं। कौन किसे सुख दुख दे सकता है? शाप अनुग्रह करने की किसकी सामर्थ्य है। महाराज! समस्त प्राणी अपने कर्म सूत्र में बँधे हैं। प्रारब्ध का जैसा विधान होता है, वैसे ही बानक बन जाते हैं, राजा का कोई ऐसा ही अदृष्ट था। अगस्त्य मुनि तो एक निमित्तमात्र बन गये। नियमानुसार राजा को जब यह

विदित हो गया था, कि कोई मुनि मेरे आश्रम पर आये हैं, तो भजन से बढ़कर अतिथि सत्कार को समझकर उन्हें उठकर मुनि का स्वागत सत्कार करना चाहिये था। भूल में ही सही उनसे महत् अपराध हो ही गया। जैसी भवितव्यता होती है वैसे ही विधान बन जाते हैं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"तब तो सूतजी, इतने दिन का जप, तप, पूजा, पाठ, आराधना, उपासना सब व्यर्थ ही हो गई। हाथी योनि में क्या साधन हो सकता है?"

इस पर शीघ्रता से सूतजी बोले—"नहीं महाराज! शुभ कार्य कभी भी व्यर्थ नहीं होते। भगवान की उपासना अमोघ होती है। भगवत् प्राप्ति सहज नहीं। अनेक जन्मों की घोर तपस्या के अनन्तर भगवत् प्राप्ति होती है। कोटि जन्मों के पुण्यों के प्रभाव से पुरुषों की प्रभु पाद पद्मों में भक्ति होती है। महाराज इन्द्रद्युम्न तो अपनी भगवद् भक्ति के कारण उसी जन्म में प्रभु को प्राप्त कर लेते, किन्तु कोई जन्मान्तर का दुष्कृत उदय हो गया, इससे उन्हें कुछ काल तमोमयी गज योनि में रहना पड़ा। पशु योनि प्राप्त करके भी उनका ज्ञान अक्षुण्ण बना रहा। तभी तो उन्होंने पशुयोनि में ऐसी दिव्य स्तुति की। उनकी आराधना का ही फल था, कि स्मरण करते ही स्वयं साक्षात् श्री हरि चतुर्भुज रूप से उनके सम्मुख उपस्थित हुए और उन्हें घोर संकट से उबारा। भगवान् का त्रैलोक्य वंदित मनोहर मुख देखते देखते वाणी से उनके सुमधुर नामों का कीर्तन करते करते उन्होंने उस गज शरीर को त्यागा।

गज के शरीर को त्यागते ही उनका रूप चतुर्भुज हो गया। चारों हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मशोभा देने लगे। पीताम्बर को धारण करके वह भगवान का निज पार्षद हो गया।

वह भगवत् सारूप्यता को प्राप्त हो गया। मनुष्य योनि में भी जो दुर्लभ वस्तु है, वह उसने पूर्व जन्म की आराधना के प्रभाव से पशु योनि में प्राप्त कर ली।

श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन्! यह मैंने चतुर्थ मन्वन्तरावतार भगवान् हरिका परम पावन चरित्र आप से कहा। गज और ग्राह दोनों का ही उद्धार करके वैकुंठ पति भगवान् हरि गरुड़ पर चढ़कर अपने भवन को चले गये। उनके पीछे पीछे गंधर्व गाते जाते थे, ऋषि मुनि और नित्य पार्षद उनकी स्तुति करते जाते थे।

महाराज! यह गजेन्द्र मोक्षण नामक श्री हरि का चरित्र परम धन्य है, यश को बढ़ाने वाला है। सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाला है जो इसे श्रद्धा पूर्वक सुनेंगे सुनावेंगे उनके समस्त मनोरथ पूर्ण होंगे और उनकी भगवान् के चरणों में अहैतुकी भक्ति होगी। अतः मंगल चाहने वालों को इसका नित्य पाठ करना चाहिये।

छप्पय

बोले मुनिवर-'अधम'! करै तू अतिथि निरादर।
दैकें क्षत्रिय नहीं करे विप्रनि को आदर॥
गज सम बैठ्यो रह्यो होइ तू जड़ मति गजई।
दैकें दारुन शाप गये तत् क्षण मुनि तबई॥
हर्ष न विस्मय नृपति कूँ, समुझि दैव गति रहि गये।
ते ई दूसर जन्म महँ, वारणेन्द्र भूपति भये॥

---

# गज ग्राह चरित्र की समाप्ति

( ५०८ )

एतन्महाराज तवेरितो मया,
कृष्णानुभावो गजराजमोक्षणम् ।
स्वर्ग्यं यशस्यं कलिकल्मषापहम्,
दुःस्वप्ननाशं कुरुवर्य शृण्वताम् ॥*
(श्री भा० ८ स्क० ४ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

करि गज को उद्धार, भये आनंदित श्रीहरि।
बोले करुना सिन्धु सबनि कूँ सम्बोधित करि।
ये मेरे हैं रूप कंदरा वन गज सरवर।
विधि हरि हर के धाम बाँस पर्वत गिरि गह्वर॥
शेष शारदा सत श्रुति, सूर्य चन्द्र ध्रुव धर्म हैं।
गंगा यमुना सरसुती, यश आदि शुभ कर्म हैं॥

श्री हरि जहाँ अवतार धारण करके क्रीड़ा करते हैं वह स्थल पवित्र हो जाता है, वहाँ की धूलि पावन बन जाती है,

---

* श्री शुकदेवजी राजा परिक्षित् से कह रहे हैं—"हे महाराज! यह श्रीकृष्ण कृपा रूप गजेन्द्र मोक्षण चरित मैंने आप को सुना दिया। यह चरित्र धन्य है, कलि कल्मषों को काटने वाला है, स्वर्ग देने वाला है, दुःस्वप्नों का नाश करने वाला है। हे राजन्! सुनने वालों को यह सुयश देने वाला है।

वहाँ के वृक्ष, गुल्मलता, सरोवर, पर्वत, वन गिरिगह्वर तथा सभी स्थान पुण्य प्रद हो जाते हैं। जिन व्यक्तियों का भगवान् से संसर्ग होता है, वे सभी प्रातःस्मरणीय हो जाते हैं। जीव भगवत् के साक्षात्कार के बिना ही तो इधर उधर व्यर्थ भटक रहा है। जहाँ उसको भगवद् दर्शन हुए वहीं कृतकृत्य बन गया।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् ने गज और ग्राह दोनों का उद्धार किया और वे दोनों ही दिव्य धामों को प्राप्त हो कर कृतार्थ हो गये?"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! हमने तो ऐसा सुना है कि इन गज ग्राह को गरुड़ जी भक्षण कर गये थे और ये दोनों सगे भाई थे और आप कह रहे हैं, ग्राह हूहू गन्धर्व था और गज द्रविण देश के महाराजा इन्द्रद्युम्न थे। इनमें से कौनसी बात सत्य है?"

इस पर शीघ्रता के साथ सूतजी ने कहा—"महाराज, दोनों ही सत्य हैं। किसी कल्प में गज ग्राह को गरुड़ जी खा गये होंगे मैं तो इस कल्प के चतुर्थ मन्वन्तर की कथा कह रहा हूँ, इस मन्वन्तर में तो हरिणीनन्दन भगवान् हरि ने ही इनका उद्धार किया। गरुड़ जी ने जो गज कछुए का भक्षण किया, वह कथा भी बड़ी रोचक है। वहाँ लड़ने वाला ग्राह न होकर कछुआ था।"

यह सुनकर शौनक जी ने कहा—"हाँ, तो सूतजी! उसे भी सुनाइये। गरुड़ और गरुड़ध्वज दोनों के ही चरित्र तो समान ही हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"मुनियो! यह कथा

तो बहुत बड़ी है, मैं उसे संक्षेप से सुनाता हूँ आप सब एकाग्र चित्त से श्रवण करें।

गरुड़ जी और अरुण जी की माता विनता और सर्पों की माता कद्रू ये दोनों सगी बहिनें भी थीं और कश्यप की पत्नी होने से सौतें भी थीं। एक दिन उच्चैश्रवा की पूँछ के पीछे दोनों में वाद विवाद हो गया। विनता कहती थी पूंछ सफेद है, कद्रू कहती थी काली है। बात यहाँ तक बढ़ गई कि एक की बात असत्य होने पर वह दूसरी की जीवन भर दासी बने। वास्तव में उच्चैश्रवा की पूंछ सफेद ही थी, कद्रू ने अपने पुत्र नागों को उसकी पूंछ में लिपटा दिया, इससे वह काली दिखाई देने लगी। यों छल से कद्रू ने विनता को दासी बना लिया। जब विनता के पुत्र गरुड़ जी पैदा हुए, तो उन्होंने सब बातें सुनी। नागों से पूछा—तुम कौन सा काम कर देने पर हमें दासता से मुक्त कर सकते हो ?"

नागों ने कहा—"आप हमें स्वर्ग से अमृत ला दें, तो आप और आपकी माता हमारी दासता से मुक्त हो जायँ। गरुड़जी के के लिये तो संसार में कुछ असंभव था ही नहीं। वे अमृत लाने को चल दिये। चलते समय उन्होंने अपनी माता से पूछा—"माँ! मुझे इतनी दूर इन्द्रलोक जाना है। भूख बहुत अधिक लग रही है, मैं खाऊँ क्या ?"

माता ने कहा—"भैया, यहाँ पृथ्वी पर तो तेरा पेट भरना असंभव है। तू एक काम कर समुद्र के बीच में बहुत से निषाद रहते हैं। ये बड़े हिंसक, क्रूर और निर्दयी होते हैं। तू इन सब को भक्षण कर जाना। किन्तु किसी ब्राह्मण को भूल से भी मत खा जाना।"

गरुड़जी 'बहुत अच्छा' कह कर माताजी को प्रणाम क

सर्व प्रथम उस द्वीप में ही पहुँचे। वहाँ के म्लेच्छ अनार्य देखने में तो सुन्दर थे, किन्तु उनके हृदय कलुषित थे, वे हिंसा में सदा तत्पर रहते थे। गरुड़ जी ने उन्हें खाना आरम्भ किया। सर्वत्र भगदड़ मच गई। उसी झपट्टे में उनका पुरोहित भी गरुड़ जी के कंठ में चला गया। गरुड़ जी का कंठ जलने लगा। तब उन्हें माता की बात याद आ गई। उन्होंने झट उसे उगल दिया और उसकी निषादी पत्नी को भी। इस प्रकार वे सहस्रों को खा गये, किन्तु उनका पूरा जल पान भी नहीं हुआ। आधे पेट ही वे उड़ने लगे। रास्ते में सुमेरु पर्वत पर उन्हें उनके पिता कश्यप जी मिल गये। पिता के चरणों में गरुड़ जी ने प्रणाम किया। अपने पुत्र को देखकर मुनि अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और बोले—"बेटा! कहो, सब कुशल तो है, मर्त्य लोक में तुम्हें कोई कष्ट तो नहीं।"

गरुड़ जी ने कहा—"पिताजी! और तो कोई कष्ट है नहीं किन्तु कष्टात् कष्टतरी क्षुधा बताई है। मर्त्यलोक में मेरा पेट नहीं भरता। अब भी मुझे भूख व्यथित कर रही है। कोई मेरे अनुरूप आहार बताइये, जिसे खाकर मैं अपनी भूख शान्त कर सकूँ।"

यह सुनकर कश्यप जी ने कुछ काल ध्यान किया और बोले—"हाँ, तुम्हारे योग्य एक आहार है। यहाँ से समीप ही देवताओं का एक सिद्ध सरोवर है, उसमें बड़ा वारणेन्द्र हाथी है और एक जल जन्तु कच्छप है वे दोनों लड़ते रहते हैं। उन्हें सहस्रों वर्ष लड़ते हो गये। तुम उन दोनों को खाकर अपनी बुभुक्षा को बुझा लो।"

इसपर गरुड़ जी ने कहा—"अजी, पिताजी एक गज से तथा कच्छप से मेरा क्या पेट भरेगा, वे कितने बड़े हैं?"

कश्यपजी ने आश्चर्य की मुद्रा बनाकर कहा—"अरे, भैया! तुम उनकी लम्बाई चौड़ाई मत पूछो। हाथी २४ कोस तो चौड़ा है और ४८ कोस ऊँचा है, और कच्छप १२ कोस ऊँचा है ४० कोस का उसका घेरा है। कच्छप एक पूरा द्वीप है गज एक पूरा पहाड़ है। मेरा विचार है दोनों को खा लेने पर तेरी तृप्ति अवश्य हो जायगी।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए गरुड़जी ने कहा—"हाँ, पिताजी! इतने से तो मेरा पेट भर जायगा। अच्छी बात है, मैं जाता हूँ। यह कहकर वे उसी क्षण उड़कर उस सरोवर की ओर चल दिये।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! कभी २ तो आप ऐसी गप्प मार देते हैं, कि बुद्धि काम नहीं देती। बताइये ४८ कोस ऊँचा हाथी और ४० कोस घेरे का कच्छप। एक तो इतने बड़े जीव ही असम्भव हैं, फिर हों भी तो गरुड़जी का पेट क्या हुआ पाताल का विवर हो गया, जिसमें इतने बड़े जीव जन्तु समा जायँ।"

इस पर सूतजी बोले—"भगवान्! ये सीमित क्षुद्र बुद्धि वाले-अहंकारी अपने को बड़ा पंडित मानने वाले—मनुष्य ऐसी बात कहें तो ठीक भी है। आपके लिये ऐसी शंका शोभा नहीं देती। प्रभो! इस सृष्टि में विविध भाँति के जीव हैं। अनेक प्रकार के समुद्र, द्वीप और वर्ष हैं। मनुष्यों को तो जम्बू द्वीप के ९ खण्डों में से एक भारतवर्ष ही दिखाई देता है; इसे ही ये क्षुद्र प्राणी संसार कहते हैं। ७ समुद्रों में से इन्हें तो लवण सागर ही दिखाई देता है। शेष ६ समुद्रों का देखना तो पृथक् रहा ये लोग उनकी कल्पना तक नहीं कर सकते। जल जन्तुओं में अब भी तिमिङ्गल नामक मछली—

से बड़ी मानी जाती है, उसके मरने पर टापू बन जाते हैं कोसों लम्बे चौड़े। जब इस छोटे से खण्ड में इतने बड़े बड़े जन्तु हैं, तो जो क्रम से एक से दूसरे १०।२० गुने परिमाण में हैं, उनमें न जाने कितने लम्बे जीव जन्तु होंगे। भगवन् ! मनुष्य अपनी ही बुद्धि से सोचता है। पहाड़ी लोग पहाड़ों के ऊपर पत्थर हटा हटाकर २—२,४—४ हाथ के खेत बना कर उसी में अन्न बोते हैं। वे इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि गंगा यमुना की सम भूमि में हजार हजार बीघे खेत होते हैं। उनसे कोई कहे कि दो बीघे का खेत होता है, तो वे विश्वास ही नहीं करते क्योंकि उनके मस्तिष्क में तो वे ही २—२,४—४हाथ के खेत भर रहे हैं। गरुड़जी के खाने की बात, सो, गरुड़जी कोई साधारण जीव तो हैं नहीं। इन्द्र के भी दांत खट्टे करने वाले हैं। असंख्यों ब्रह्माण्ड जिनके उदर में हैं उन श्री हरि को वहन करने वाले उनके वाहन हैं। आप अनुमान करें कि सहस्रों निषाद जिनके लिये जल पान को भी पर्याप्त नहीं होते, उनके लिये इतने लम्बे चौड़े हाथी और कच्छप को खा जाना कौन सी बड़ी बात है क्या चींटी कल्पना कर सकती है कि एक आदमी एक दिन में १० सेर लड्डू खा जायगा। भीमसेन सवा मन का जलपान करते थे यह तो सुनी हुई बात है, किन्तु १० सेर लड्डू एक स्थान पर बैठ कर खाने वाले तो अब भी हैं। भगवन् ! जैसा जिसका डील डौल होता है, वैसा ही उसका आहार भी होता है। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं।"

हँसकर शौनकजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज ! आप की ही बात सत्य रही, अब आगे की कथा तो सुनाओ।"

सूतजी बोले—"हाँ, तो महाराज ! जाते समय गरुड़जी

ने अपने पिता भगवान् कश्यप से पूछा—"भगवन्! ये दोनों कौन हैं, क्यों लड़ते रहते हैं, इन्हें खाने में कुछ पाप तो न लगेगा?"

इस पर कश्यपजी ने कहा—"भैया! ये दोनों पूर्व जन्म में विभावसु और सुप्रतीक नामक दोनों सगे भाई ब्राह्मण थे। बड़े विभावसु बहुत ही क्रोधी थे। इनके पिता धनी थे। छोटे भाई सुप्रतीक इनके साथ रहना नहीं चाहते थे। क्रोधी के साथ किसे रहना प्रिय होगा। वे अपने बड़े भाई से बार बार धन का बँटवारा करने को कहा करते थे। भाई टाल देते थे मना कर देते थे सुप्रतीक मानते नहीं थे।

इस पर क्रोध में भरकर बड़े भाई विभावसु ने कहा—"देख, तू पैतृक सम्पत्ति के लिये लड़ता है मैं तुझे बार बार वारण (मना) करता हूँ, तो भी तू नहीं मानता। अतः जा वारण (हाथी) हो जा।"

सुप्रतीक भी कम नहीं थे, वे भी मुनि पुत्र थे उन्होंने भी शाप दिया—"तू भी धन को छिपा बैठा है, अतः कछुआ हो जा।"

कश्यपजी कहते हैं—"बेटा, गरुड़! वे दोनों ही मुनि पुत्र गज और कच्छप हो गये। पूर्व जन्म के वैर को स्मरण कर क्रोध में भरे ये दोनों निरन्तर लड़ते रहते हैं उनका युद्ध सर्वदा चलता रहता है। भगवान् ने तुम्हारी वृत्ति ही जीवों को खाने की बनाई है तुम्हारा आहार ही यह है। फिर जो क्रोधी, जिससे जीवों का अपकार होता है, ऐसे लोगों को मारने में कोई दोष नहीं, पुण्य ही है। इन दोनों के कारण सरोवर में रहने वाले सभी जीव-जन्तु दुखी हैं, तुम इन दोनों को मार कर अपनी भूख को शान्त करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पिता की आज्ञा
गरुड़जी चले और क्षण भर में ही सरोवर के सम
गये। एक झपट्ट में उन्होंने गज और कच्छप दोनों
एक एक पंजे में दबा लिया और उड़ चले। उनके
में दो ग्रास थे। अब उन्हें चिन्ता इस बात की थी,
दोनों को कहाँ बैठ कर खावें।" पृथिवी थर थर क
थी, वृक्ष शाखा हिला हिला कर मना कर रहे थे, हमा
मत बैठना।" सब को भयभीत देखकर सुमेरु पर्वत
विशाल वट वृक्ष था उसकी शाखायें १००।१०० योजन लम्
उसने कहा—"गरुड़जी आप मेरी शाखों पर बैठ कर
करलें।"

गरुड़ जी ने कहा—"अच्छी बात है। ज्योंही वे एक
दृढ़ शाखा पर बैठे थे कि वह शाखा गरुड़ जी, हाथी कच
बोझ को न सम्हाल सकी, पड़ाक से टूट पड़ी। अब तो
जी बड़े धर्म संकट में पड़े। उस डाल पर साठ हजार
खिल्य मुनि उलटे लटक कर तपस्या कर रहे थे। उनका
अँगूठे के पौरुए के बराबर था। गरुड़जी ने सोचा—यदि
डाल पृथिवी पर गिर पड़ी, तो ये सब मुनि पिच कर
जायँगे। यही सोचकर उन्होंने डार को गिरने नहीं
एक हाथ में ४८ कोस ऊँचा हाथी दूसरे में ४० कोस
कछुआ और चोंच में ४०० कोस लम्बी वट की शाखा
हुए वे उड़े। अब भूख प्यास को तो गरुड़ जी भूल
अब उन्हें यह चिन्ता पड़ गई कि इन अँगूठा की

सुमेरु के शिखर के समान डील डौल वाले गरुड़जी उड़ते उड़ते पुनः अपने पिता के समीप पहुँचे। अपने योग बल से कश्यप जी ने सब जान लिया। अतः उन्होंने बालखिल्य मुनियों से प्रार्थना की कि आप मेरे पुत्र गरुड़ की सहायता करें इसे धर्म संकट से बचावें।"

बालखिल्य मुनियों ने कश्यप की प्रार्थना स्वीकार की और वे उस डाली को छोड़ कर हिमालय पर्वत पर तपस्या करने चले गये। तब गरुड़ जी ने पिता की आज्ञा से उस डाल को हिमालय की उन चोटियों पर छोड़ दिया जो सदा बरफ से ढकी रहती हैं जहाँ कोई भी जीव जन्तु नहीं रहते। वहीं बैठकर गरुड़जी बड़े आनन्द से उन दोनों को खा लिया और तब निश्चिन्त होकर अमृत लेने गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह कल्पान्तरकी कथा है, इसका गजग्राह से सम्बन्ध नहीं! यह तो गज और कछुए की कथा है। हरिणीनन्दन भगवान् हरिने जो हरिमेधा मुनि के यहाँ अवतीर्ण हुए थे, उन्होंने तो गज और ग्राह का उद्धार किया था। गज और कच्छप को खाकर उनका उद्धार उनके वाहन गरुड़ ने किया था।

वह गजेन्द्र उद्धार की कथा तो समस्त पापों को नाश करने वाली है, इस कथा के संसर्ग से जो गज का, ग्राह का, ग्राह के रहने के सर का, उसके किनारे के वृत्तों का, बाँस का, कीचक, गुल्मों का, वन, पर्वत, द्रुम, लता तथा गिरिवरों का, भगवत् धामों का, भगवान् की जो विभूति हैं चीरसागर, श्वेतद्वीप, श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, वनमाला, कौमोदकी गदा, सुदर्शन चक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, गरुड़, लक्ष्मी, नारद, शिव, प्रह्लाद, मत्स्य, कूर्म, बराह, नृसिंह, वामन, राम, कृष्ण आदि अवतारों का सूर्य, चन्द्र

अग्नि, प्रणव, सत्य, अव्यक्त, गौ, ब्राह्मण, धर्म का, कीर्ति आदि धर्म पत्नियों का, गंगा, यमुना, सरस्वती, भद्र आदि पुण्य सरिताओं का, ऐरावत, नाग, ध्रुव, सप्तर्षि, अन्यान्य महर्षि, नल, युधिष्ठिर आदि पुण्य श्लोक पुरुषों का जो प्रातः उठकर स्मरण करेगा। उन्हें मरते समय भगवान् का स्मरण हो जाया करेगा। ऐसी भगवान् ने स्वयं आज्ञा दी थी।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! यह मैंने चतुर्थ मन्वन्तरावतार भगवान् हरि का चरित्र सुनाया। अब पाँचवें और छठे मन्वन्तरावतारों की कथा सुनिये।

छप्पय

कौस्तुभ मनि श्रीवत्स और मेरी वनमाला।
पाञ्चजन्य शुभ शंख गदा मम दिव्य विशाला॥
असुर विनाशक चक्रसुदर्शन मेरो भारी।
सुरमुनि अरु अवतार पुरुष सब शुभ व्रतधारी॥
इन सबकूँ जो प्रात उठि, श्रद्धा तैं सुमिरन करें।
भव सागर कूँ मनुज ते, बिनु प्रयास निश्चय तरें॥

तत्रापि देवः संभूत्यां वैराजस्याभवत्सुतः।
अजितो नाम भगवानंशेन जगतः पतिः॥
पयोधिं येन निर्मथ्य सुराणां साधिता सुधा।
भ्रममाणोऽम्भसि धृतः कूर्मरूपेण मन्दरः॥*
(श्री भा० ८ स्क० ५ अ० ९, १० श्लो०)

छप्पय

भये पाँचवें रैवत मनु मन्वन्तर अधिपति।
लियो विष्णु अवतार नाम 'वैकुण्ठ' रमापति॥
कमला हित वैकुण्ठ रच्यो सब लोक नमस्कृत।
मन्वन्तरपति भये छठे चाक्षुस मनु श्रीयुत॥
सम्भूती के गर्भ तैं, भये विष्णु वैराजसुत।
'अजित' नाम अच्युत रख्यो, मथ्यो सिन्धु श्री अमृत हित॥

भगवान् की लीलायें इतनी दिव्य और आश्चर्य जनक होती हैं, कि साधारण लोग उनका रहस्य समझ ही नहीं सकते।

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! छठे मन्वन्तर में भगवान् वैराज नामक ऋषि की सम्भूति नाम वाली स्त्री में 'अजित' नाम से अपने अंश से उत्पन्न होकर विख्यात हुए। जिन्होंने समुद्र को मथकर देवताओं को अमृत पिलाया था। समुद्र के जल में घूमते हुए मन्दराचल को कछुआ का रूप रखकर धारण किया था।

जब तक भगवान् स्वयं कृपा न करें तब तक उनके अवतार का भेद कोई समझ नहीं सकता।

महाराज परीक्षित् ने श्रीशुकदेवजी से कहा—"प्रभो! चार मन्वन्तरों की कथा तो आपने कही अब आगे के मन्वन्तरों में भगवान् के कौन कौन अवतार हुए और उनमें भगवान् ने कौन कौन से विशिष्ट कार्य किये इन बातों को आप मुझे और सुनावें।"

श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन् चतुर्थ मन्वन्तर के अधिपति जो उत्तम के भाई तामस थे, उनके भी एक सहोदर भाई रैवत थे। वे रैवत अपने पुण्य प्रभाव से पंचम मन्वन्तर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनके अर्जुन, बलि, विन्ध्य आदि कई पुत्र हुए जो राजा बनकर पृथिवी का शासन करते रहे। उस मन्वन्तर के इन्द्र का नाम विभु था। भूतरय आदि देवताओं के गण हुए तथा हिरण्यरेता, वेदशिरा और ऊर्ध्वबाहु आदि सप्तर्षि हुए। उस मन्वन्तर में भगवान् ने शुभ्र मुनि की विकुण्ठा नामक पत्नी से अवतार ग्रहण किया, इसीलिये वे वैकुण्ठ नाम से प्रसिद्ध हुए।

महाराज परीक्षित ने पूछा—भगवन्! इन वैकुण्ठ भगवान् ने क्या कार्य किया ?"

श्री शुकदेव जी ने कहा—"राजन्! इन वैकुण्ठ भगवान् ने रमा देवी की प्रार्थना पर उनकी प्रसन्नता के निमित्त सर्वोत्तम वैकुण्ठ लोक की कल्पना की। वह ऐसा लोक निर्माण किया जिसकी वन्दना सभी लोक करते हैं।"

इस पर शौनकजी ने शंका की—"सूतजी! वैकुण्ठ लोकतो अनादि है। उसकी रचना का क्या अभिप्राय। उसका कभी

अदर्शन तो होता नहीं वह तो नित्य है। फिर वैकुण्ठ की भगवान् ने रचना क्यों की?"

इसपर सूतजी बोले—"महानुभाव! वैकुण्ठ तो नित्य है ही। उस में तो महाविष्णु अहर्निशि विराजकर लोकातीत दिव्य क्रीड़ायें करते ही रहते हैं। वहाँ की लीलाओं की कल्पना भी मानवीय बुद्धि के बाहर की बात है। इन वैकुण्ठ भगवान् ने उसी वैकुण्ठ की प्रतिमूर्ति वैसे ही दिव्य वैकुण्ठ की रचना की जिनकी लीलाओं का आस्वादन भूतल के प्राणी भी कर सकें। उसकी दिव्यता में या नित्यता में कोई व्याघात नहीं केवल भक्तों के अनुग्रहार्थ लोकवत् लीला करने के निमित्त भगवान् ने इस वैकुण्ठ की कल्पना की। जय विजय को शाप इसी वैकुण्ठ में हुआ। हिरण्यकशिपु अपने भाई का बदला लेने इसी वैकुण्ठ में गया, जिससे डरकर भगवान् उसके हृदय में प्रवेश कर गये। भगवन्! केवल यह भगवान् का विनोद मात्र है। नहीं तो उन्हें किसका भय, उनके पार्षदों को शाप देने का किनका साहस। यह सब उनकी भक्तों पर कृपा है, ऐसे कौतुक न करें तो भक्तों का मनोरंजन कैसे हो। किनके चरित्रों को सुनकर वे हँसे रोवें और प्रेम में विभोर हों। इन वैकुण्ठ भगवान् की कुछ लीलाओं का दिग्दर्शन जय विजय के शाप के प्रसंग में वर्णन हो ही चुका है। अब आप छठे मन्वन्तरावतार की कथा सुनिये।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! छठे मन्वन्तर के अधिपति चक्षुष् के पुत्र चाक्षुष हुए। उनके पुरु, पुरुष और सुद्युम्न आदि पुत्र हुए। उनके वंशजों ने इस पृथिवी का राजा बनकर शासन किया। उस मन्वन्तर के इन्द्र का नाम मन्त्रद्रुम था। आप्य आदि देवताओं का गण था तथा हविष्मान्

चीरक आदि सप्तर्षि थे। इस मन्वन्तर में भगवान् ने वैराज की पत्नी सम्भूति के गर्भ से अवतार धारण किया। ये संसार में "अजित" इस नाम से विख्यात हुए।"

इसपर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! इन अजित भगवान् ने कौन सा विशेष कार्य किया?"

हँसकर भगवान् शुक बोले—"अजी राजन्! इन बहुरूपिया भगवान की लीला के विषय में कुछ न पूछिये। इन्होंने तो ऐसी लीलायें की कि कुछ कहते भी नहीं बनता। चुरी, बीछिया और नथ पहिनकर नर से नारी भी बन गये।"

इस पर राजा ने आश्चर्य से कहा—"भगवन्! पुराण पुरुष प्रभु नर से नारी क्यों बने?"

श्री शुक हँसते हुए बोले—"अजी राजन्! इनका एक रूप हो तो कुछ कहा भी जाय। ये न स्त्री हैं न पुरुष हैं और न पुंसक-योनि पशु हैं न पक्षी न मनुष्य न देव। क्या हैं कुछ कहा नहीं जाता। ऐसे ही कुछ सट्ट पट्ट हैं।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवन्! ऐसी कौन सी लीला रची, जिसके लिये कड़े छड़े बीछिया पहिनने पड़े।"

श्री शुक बोले—"राजन्! इन्होंने देवताओं को अमृत पिलाने के लिये लक्ष्मी जी को प्रकट करने के लिये समुद्र मंथन किया था। यह ऐसी कुतूहल पूर्ण लीला थी, कि एक अवतार से काम ही न चला। चार चार अवतार एक साथ धारण करने पड़े। स्त्री बनना तो पृथक् कछुआ भी बने और वैद्य भी।

अत्यन्त आश्चर्य के साथ महाराज परीक्षित् ने कहा—"अजी, महाराज! एक साथ चार अवतार! तब तो यह समुद्र मन्थन की लीला बड़ी अद्भुत हुई होगी? कृपया इसे विस्तार के साथ मुझे सुनावें भगवान् को कछुआ क्यों बनना पड़ा? समुद्र मंथन

की क्यों आवश्यकता हुई ? समुद्र मथा कैसे गया ? किस किसने मथा। अमृत भगवान् ने देवताओं को ही क्यों पिलाया ? लक्ष्मी जी कहाँ चली गई थीं ? स्त्री बनने की भगवान् को क्यों आवश्यकता प्रतीत हुई ?"

इस पर श्री शुकदेव जी बोले—"महाराज ! इसका संक्षेप में उत्तर तो यही है, कि भगवान् की लहर है, जो आ जाय। स्थल में रहते रहते सोचा होगा, लाओ कछुआ बनकर भी देख लें। बार बार पुरुष बनकर लक्ष्मी जी की घुड़की सुनते सुनते सोचा होगा लाओ स्त्री बनकर भी देख लें। इसमें कितनी मोहकता है। जानते तो सब हैं, जान बूझकर भी अनजानों की सी क्रीड़ायें करते हैं। यही इनकी भगवत्ता है। आपने जो समुद्र मन्थन सम्बन्धी प्रश्न किये हैं उन सबका मैं संक्षेप में उत्तर दूँगा। पहिले तो इसी बात का उत्तर देता हूँ कि लक्ष्मी कहाँ चली गई और अमृत तथा लक्ष्मी के निमित्त क्यों समुद्र मथा गया। इसी प्रसंग में भगवान् के चारों अवतारों अजित, कच्छ मोहिनी और धन्वन्तरि की कथायें आजायगीं। आप इन्हें सावधान होकर सुनें।

छप्पय

धरि कछुआ को रूप मंदराचल कूँ धारयो।
सुरनि संग इक अजित रूप धरि अमृत निकारयो॥
अमृत कलश लै प्रकट भये हरि धन्वन्तरि बनि।
दैत्य छले ह्वै नारि अमृत दै दीयो देवनि॥
कहैं परीक्षित कथा सब, सिन्धुमथन की कहहु प्रभु।
श्री अन्तर्हित भईं कस, चार रूप क्यों धरे विभु॥

किसी को अनुभव नहीं होता। सभी वहाँ देवताओं की भाँति विहार करते हैं। सुख से अपनी समस्त काम वासनाओं को पूर्ण करते रहते हैं। सिद्ध, गन्धर्व, किंपुरुष, किन्नर, गुह्यक, विद्याधर, यक्ष, नाग आदि अनेक उपदेवों की जातियाँ हैं। इन सब में गन्धर्व और विद्याधर ये सबसे अधिक सुन्दर होते हैं। इनकी स्त्रियाँ सदा नवयौवना ही बनी रहती हैं, उन्हें न कभी वृद्धावस्था व्यापती है, न उनके शरीर से पसीना, कफ आदि मल निकलते हैं, उनके सुन्दर शरीर से पद्म के समान सदा गन्ध निकलती रहती है। काम क्रीड़ाओं से कभी उनकी तृप्ति नहीं होती। वे सदा यौवन मद में उन्मत्त हुई संगीत की तान छोड़ती हुई इधर उधर पक्षियों की भाँति चहकती रहती हैं और वन उद्यानों तथा सरोवर के तटों में स्वेच्छानुसार विहार करती रहती हैं।

एक दिन एक विद्याधर कन्या एक सुन्दर सरोवर के तट पर एकाकी खड़ी थी। वह अपनी सौन्दर्य की छटाओं से उस वन्य प्रदेश को आलोकित कर रही थी। हाथ में कमनीय कमलों की सुगन्धित माला लिये वह उसी प्रकार प्रतीत होती थी मानों कामदेव से विलग हुई रति खड़ी हो। उसके हाथ में दिव्य पुष्पों की माला थी, उसकी गन्ध के लोभ से बहुत से भौंरे उसके चारों ओर मड़रा रहे थे। खिले हुए कमल के भ्रम से वे भ्रमर उसके आनन पर बैठने को समुत्सुक हो रहे थे, वह उन्हें व्रीड़ा के सहित वरज रही थी। उस माला में ऐसी उत्कट मनोज्ञ गन्ध थी, कि योजनों उसकी सुवास फैल रही थी। दैव योग से उसी गन्ध से आकर्षित हुए महर्षि दुर्वासा वहाँ आ पहुँचे। स्वयं उसका वर्ण सुवर्णके समान था, रक्त कंचुकी के ऊपर उसने नीली साड़ी ओढ़ रखी थी। वह हाथ में कमलों की

माला लिये एकाग्र चित्त से जल की ओर निहार रही थी। वह सजीव साकार श्री के समान ही दिखाई देती थी। मुनि ने उसे देखा किन्तु उसने मुनि को नहीं देखा, वह तो ध्यान में तन्मय थी। उस अनवद्य सौंदर्य को देखकर मुनि मन्त्र मुग्ध की भाँति बिना प्रयास के ही उसकी ओर बढ़ते गये। उनके चित्तमें कुछ चंचलता भी आ गई थी। सहसा उसका ध्यान भंग हुआ। पीछे फिर कर ज्यों ही उसने देखा, त्यों ही उसे दुर्वासा मुनि दिखाई दिये। दुर्वासा को देखकर वह सहम गई, डर के कारण उसकी सम्पूर्ण प्रसन्नता विलीन हो गई। भयभीत मृगी की भाँति वह मुनि की ओर न देखकर थर थर काँपने लगी। मुनि ने देखा यह बाला मुझे देखकर अत्यंत ही डर गई है। तब वे उसकी झिझक मिटाने के लिये बोले—"सुन्दरि ? तुमने यह माला तो बड़ी सुन्दर बनाई है इसकी गन्ध बड़ी ही मन-मोहक है क्या तुम इस माला को मुझे दे दोगी ?"

मुनि की ऐसी सरल बातें सुनकर बाला का भय कुछ कम हुआ। उसने माला मुनि को श्रद्धा सहित समर्पित करदी और बड़ी भक्तिपूर्वक पृथिवी में घुटने टेककर भूमिष्ठ होकर मुनि के चरणों में प्रणाम किया और तुरन्त वहाँ से चल दी। मुनिवर कुछ काल तो उसकी ओर देखते रहे। फिर उन्होंने प्रकृतिस्थ होकर अपनी चित्त की वृत्ति को उधर से हटाया। विद्याधरी की दी हुई माला को उन्होंने अपनी जटाओं में खोंस लिया और अवधूत वृत्ति से वहाँ से चल दिये।

मुनिवर आनन्द में मग्न हुए उन्मत्तों की भाँति जा रहे थे, कि सम्मुख उन्होंने ऐरावत पर चढ़े हुए इन्द्र को उधर से आते देखा। उनके सिर पर अमृत स्रोती श्वेत छत्र लगा हुआ था। अप्सरायें तथा गन्धर्व उनके गुणों का गान कर रहे थे। त्रैलोक्य

की श्री से सम्पन्न इन्द्र ऐरावत पर बैठे थे। दुर्वासा ने देव-राज को देखा, उनका सम्मान करने के निमित्त अपनी जटाओं

में से वही माला निकाल कर उनके ऊपर फेंक दी। देवराज ने उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उन्होंने सोचा—"बहुत से ऋषि मुनि मेरे सम्मुख खड़े होकर मेरी स्तुति करते हैं, फूल माला चढ़ाते हैं। मैं सभी देवता, ऋषि मुनियों तथा प्राणियों का स्वामी हूँ। मुझे भेंट देना, मेरा सम्मान करना सबका कर्तव्य ही है। यही सब सोचकर उन्होंने उस माला को कोई महत्व नहीं दिया। हाथ से उठाकर ऐरावत के मस्तक पर रख दिया।

हाथियों का स्वभाव होता है उनके मस्तक पर कुछ रख दो,

तो उसे वे सूँड़ से उठा लेते हैं। ऐरावत ने भी उस माला को सूँड़ से उठा लिया और पैरों से कुचल दिया। पशु ही ठहरा उसे पता नहीं था इस माला के पीछे एक मधुर सुखद स्मृति पूर्ण इतिहास है।

दुर्वासा तो दुर्वासा ही ठहरे। वे इन्द्र की इस अविनय तथा उपेक्षा को कैसे सहन कर सकते थे। क्रोध में भरकर उन्होंने शाप दिया—"इन्द्र ! तुझे अपनी श्री का बड़ा अभिमान है। जा, आज से तेरी श्री नष्ट हो जाय। तेरी ही नहीं त्रैलोक्य की श्री नष्ट हो जाय।"

इतना सुनते ही इन्द्र का समस्त मद चूर हो गया। शीघ्रता से ऐरावत की पीठ से कूद कर वह दुर्वासा मुनि के चरणों में गिर पड़ा।"

अपने चरणों में शचीपति देवेन्द्र को पड़ा देखकर सूखी हँसी हँसकर मुनि बोले—"शचीपति! देखो, यहाँ वह गुड़ नहीं है, जिसे चींटे खा जायँ। यह अन्य मुनियों का हृदय नहीं है जो पैरों में पड़ते ही पसीज जाय। तुम चाहे ऐं करो चाहे चैं करो। पैरों पर पड़ो या नाक रगड़ो। मेरे मुख से जो निकल गया वह निकल गया। उसे तुम वज्र लेप हुआ समझो। मेरी वाणी क्या है पत्थर की लकीर है। तुम ऐश्वर्य के मद में मदोन्मत्त हो गये थे तुम्हारी यही सर्वोत्तम औषधि है। जाओ, अपनी करनी का फल भोगो।"

इतना कह कर बिना उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये मुनि चले गये। श्री हीन हुए इन्द्र स्वर्ग में लौट कर आये। यहाँ उन्हें सभी निस्तेज दिखाई दिये। स्वर्ग की अप्सरायें कान्ति-हीन होकर कुरूपा सी दिखाई देने लगीं। जिसको देखो वही श्री, तेज, ऐश्वर्य, प्रभा तथा कान्ति से हीन प्रतीत हो

है। इन्द्र का सभी आनन्द नष्ट हो गया। वे सदा चिन्तित रहने लगे।

शुक्राचार्य से सभी समाचार असुरों को मिला। इस सुखद सम्वाद को सुनकर उनका रोम रोम खिल उठा। उनकी प्रसन्नता का वारापार नहीं रहा। तुरन्त उन्होंने सेना सजाकर स्वर्ग पर धावा बोल दिया। श्री हीन सुरों ने असुरों का सामना किया, किन्तु उनमें उत्साह ही नहीं था। वे असुरों की मार को न सह सके और रण में मर कर गिरने लगे। यदि कोई असुर मरता तो उसे तो शुक्राचार्य अपनी संजीविनी विद्या के प्रभाव से जिला देते, किन्तु जो देवता मरते, तो वे मरे के मरे ही रह जाते, फिर पृथ्वी पर से नहीं उठते थे। यह देख कर इन्द्र का साहस छूट गया। वे युद्ध से भाग निकले। उनके भागते ही सभी देवता भाग गये। विजय असुरों की हुई। स्वर्ग पर असुरों का अधिकार हो गया। देवता इधर उधर श्री हीन हुए नाना वेष बनाकर पृथ्वी पर विचरण करने लगे और अपने दिनों को जैसे तैसे काटने लगे।

जब श्री ही नहीं, तब मंगल कहाँ? जब मंगल ही नहीं, तब उत्सव कहाँ, जब उत्सव ही नहीं तब धार्मिक यज्ञ यागों में उत्साह कहाँ? जब यज्ञ यागादि ही नहीं तब संसार का क्षेम कहाँ?

सर्वत्र यज्ञ बन्द हो गये। देवताओं का यही तो आहार है। अग्नि में जो देवताओं के उद्देश्य से हवनीय द्रव्यों का वेद मंत्रों के सहित तद् तद् देवताओं के निमित्त जो विधिपूर्वक हवन किया जाता है, उस द्रव्य को अग्नि उन उन देवताओं के समीप पहुँचा देते हैं उसी से देवता तृप्त होते हैं। अब जब हवन ही बन्द हो गये, तो अग्नि क्या पहुँचावे? इन्द्रादि देवता भूखों मरने लगे।

सभी प्राणी श्रीहीन हो गये, यज्ञादि कर्मों का सर्वथा उच्छेदन हो गया।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब सम्पूर्ण संसार की ऐसी दुर्दशा हो गई और देवता भूखों मरने लगे, तब तो उन सब ने मिलकर एक सभा की। इन्द्र वरुण, कुबेर, यम तथा अन्यान्य सभी देव गण एकत्रित हुए। बड़ी देर तक वाद विवाद होता रहा। प्रश्न यही था, कि अब क्या करना चाहिये? किसी ने कुछ कहा किसी ने कुछ कहा। अन्त में कुछ भी निर्णय होते न देख कर इन्द्र ने कहा—"भाई ऐसे काम न चलेगा। हम लोग सब मिलकर लोकपितामह भगवान् ब्रह्माजी की सेवा में चलें। वे जो भी उपाय बतावेंगे उसी को हम सब करेंगे। यह बात सभी को अच्छी लगी। अतः सभी मिलकर सुमेरु के मध्य शिखर स्थित पर ब्रह्माजी की सभा में चलने के लिये उद्यत हुए।

छप्पय

माला धारी जटनि माँहि मुनि मगन चलैं मग।
चितवत इत उत मत्त अटपटे परैं पंथ पग॥
मग महँ निरखे इन्द्र जटनि तैं माल निकारी।
फैंकी सुरपति उपरि गर्व तैं इन्द्र न धारी॥
ऐरावत मस्तक धरी, कुचली पैरनि तासु जब।
दुर्वासा क्रोधित भये, शाप इन्द्र कूँ दयो तब॥

खाना प्रायश्चित्त है। इसने तो मेरे पापों का प्रायश्चित ही कर दिया। *श्री के मद से अन्धे हुए पुरुषों के लिये दारिद्रय ही* परमांजन है। अब मैं साधु संतों को नत होकर प्राणि मात्र को प्रणाम करके भगवान् की स्तुति करके उन पापों का प्रायश्चित्त कर रहा हूँ।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! श्रीहीन हुए देवगण जब परस्पर में मिल कर भी अपने उद्धार का उपाय न सोच सके, तब सब के सब मिलकर सुमेरु के शिखर पर स्थित ब्रह्मा जी की सभा में गये। ब्रह्मा जी का मुख्य निवास स्थान तो ब्रह्मलोक है, किन्तु देवताओं तथा तीनों लोकों के प्रार्थना पत्रों का निर्णय करने तथा प्रजा के सुख दुख सुनने ध्रुव लोक के नीचे सुमेरु शिखर पर अपनी सभा में आकर बैठते हैं वहीं देवताओं के सुख दुःखों को सुनते हैं। देवताओं ने ब्रह्मा जी की सभा में जाकर पहिले लोक पितामह के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया पुनः आदि से अन्त तक अपनी सम्पूर्ण गाथा सुनाई।

ब्रह्मा जी ने देखा, इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि सबके सब देवता-गण कान्ति हीन निःसत्व तथा तेज रहित हो रहे हैं; तब तो उन्हें उनकी दुर्दशा पर दुःख हुआ। देवताओं का राजपाट, धन ऐश्वर्य सब असुरों ने छीन लिया है। सुरों का पराभव तथा असुरों की वृद्धि हो रही है, देवता मारे मारे इधर से उधर फिर रहे हैं। तबतो उन्होंने एकाग्रचित्त से परम पुरुष भगवान् श्रीमन्नारायण का ध्यान किया और पुनः सबको सम्बोधित करके कहा—"देवताओं! तुम मुझसे क्या चाहते हो? मैं तुम्हारा कौन सा प्रिय कार्य करूँ?

देवताओं ने कहा—"भगवन्! हम बड़ी विपत्ति में फँसे

हुए हैं। हमें अपने दुःख से छूटने का अन्य कोई उपाय नहीं दिखाई देता। आप तीनों लोकों के स्वामी हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अधीश्वर हैं, आप निग्रह अनुग्रह करने में समर्थ हैं, अतः आप हमारा इस विपत्ति से उद्धार करें हम आपकी शरण में आये हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए ब्रह्माजी मेघ गम्भीर वाणी में बोले—"देवताओं! तुम भ्रम वश मुझे जगत् का कर्ता और ब्रह्माण्ड का स्वामी समझ रहे हो। देखो, मैं जो सृष्टि का कर्ता कहलाता हूँ, महादेवजी जो संहार करता माने जाते हैं। तुम लोग जो तीनों लोकों में पूजनीय समझे जाते हो और कहाँ तक कहें असुर, राक्षस, मनुष्य तिर्यक् वृक्ष तथा स्वेदज आदि जितने भी जीव हैं उन पुरुषावतार प्रभु के एक अंश से निर्मित हैं। अतः भैया। मेरी शरण में आने से क्या काम चलेगा, हम सबको मिलकर उन्हीं की शरण में जाना चाहिए।"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! श्री हरि तो समदर्शी हैं उनके लिये जैसे ही हम वैसे ही असुर। यदि स्वर्ग पर असुरों का ही आधिपत्य रहा आवे तो श्रीहरि को क्या आपत्ति हो सकती है। उनकी इच्छा न होती तो क्या दैत्य हमें जीत सकते थे।"

यह सुनकर ब्रह्माजी ने कहा—"भैया, तुम्हारा कहना यथार्थ है। उनकी दृष्टि में न कोई वध करने योग्य है, न रक्षा करने योग्य है और न कोई उपेक्षणीय ही है, फिर भी संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के निमित्त वे समयानुसार क्रमशः रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण को स्वीकार करते हैं। सृष्टि करनी होती है, तो वे मुझमें मेरे अंश प्रजापति, मनु और ऋषियों में सृजन शक्ति प्रदान

जब सृष्टि की स्थिति की रक्षा करनी होती है तो मनु-पुत्रों में, अन्य राजाओं में देवताओं में अपनी शक्ति की वृद्धि करते हैं, स्वयं भी अवतार रूप से अवतीर्ण होते हैं और जब प्रलय करनी होती है तो रुद्र रूप रख लेते हैं। यक्ष राक्षस, भूत प्रेत पिशाच, ज्वर, रोग अनावृष्टि आदि रूपों से इस रची हुई सृष्टि का संहार कर देते हैं। आवश्यकतानुसार अभिमान होने पर बीच में भी कभी सुरों का बल बढ़ा देते हैं कभी असुरों का।"

देवताओं ने कहा—"तब भगवन्! आजकल तो काल असुरों के ही अनुकूल है। भगवान् ने उनको ही अपना बल प्रदान कर रखा है, तभी तो उनका अभ्युदय और हमारा पराभव हो गया। त्रैलोक्य की श्री ने हमें छोड़ दिया और असुरों को वरण कर लिया। अब तो भगवान् हमारी सुनेंगे भी नहीं।"

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"देखो, भैया! सब का काल होता है। कालस्वरूप श्रीहरि असमय में कोई कार्य नहीं करते तुम लोगों को अपने धन ऐश्वर्य का अत्यधिक गर्व हो गया था, गर्वहारी गोविन्द ने तो तुम्हारे गर्व को खर्व करने के निमित्त ही तुम्हारी पराजय कराई है। नहीं तो, इस समय असुरों के बढ़ने का समय नहीं है। यह तो प्राणियों के अभ्युदय का काल है। सत्व गुण को स्वीकार करके प्रभु सृष्टि की रक्षा में तत्पर हैं। यह तो उनका पालन का अवसर है। तुम अपने अपराध के लिए भगवान् से क्षमा प्रार्थना करो, वे तुम्हें अवश्य ही कोई न कोई विजय की युक्ति बतायेंगे।

देवताओं ने कहा—महाराज! जैसी आपकी आज्ञा हो।

हम तो आपके अधीन हैं, हमें जो करने को कहेंगे उसे बिना बिचारे करेंगे।"

इस पर ब्रह्माजी बोले—"मेरी सम्मति तो यह है कि हम सब मिलकर उन परात्पर प्रभु सम्पूर्ण जगत् के गुरु श्रीहरि की शरण में चलें। यदि हम सर्वात्मभाव से उनकी शरण में प्राप्त होंगे, तो वे अवश्य हमारा उद्धार करेंगे। हमें इस संकट से बचावेंगे। क्योंकि वे देवताओं के शुभचिन्तक हैं, सुहृद् हैं। हमें अपना शरणागत समझकर अवश्य ही हमारा कल्याण करेंगे।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! भगवान् ब्रह्माजी की यह सम्मति सबको रुची। सभी ने उनकी सम्मति का सहर्ष समर्थन किया। अतः उन सब को साथ लेकर लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा भगवान् अजित के दिव्य सत्वमय परमधाम क्षीर सागर के समीप गये। वहाँ पहुँचकर भी अजितेन्द्रिय विषय लोलुप पुरुषों को भगवान् के दर्शन नहीं होते। अतः सभी सावधान होकर, समस्त इन्द्रियों को जीतकर उन सर्वव्यापक श्री हरि की दिव्य स्तोत्र से दिव्य स्तुति करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्माजी ने भगवान् की जो दिव्य स्तुति की है, जिसमें उनके विश्वविराट् रूप का वर्णन है, वह बड़ी ही सुन्दर है। उसका उल्लेख मैं यथास्थान फिर करूँगा। आप सब अग्रिम कथा को श्रवण करें।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"अच्छी बात है, सूतजी! यह तो आपकी कथा कहने की शैली ही है। हाँ, तो ब्रह्माजी की स्तुति सुनकर भगवान् कुछ पसीजे या नहीं। देवताओं को अपना दुर्लभ दर्शन दिया या नहीं?"

इस पर गद्गद् कंठ से सूतजी ने कहा—"भगवन्! ५

सागर तो परम कारुणिक हैं, उनकी कोई झूठे भी स्तुति करता है, तो उस पर भी प्रसन्न हो जाते हैं, फिर वेदगर्भ भगवान् ब्रह्माजी ने तो इन्द्रियों को जीतकर समाहित चित्त से भगवान् की स्तुति की थी। अतः उन्हें तो दर्शन होने ही थे। भगवान् कैसे प्रकट हुए, किस प्रकार उन्होंने प्रकट होकर देवताओं का कल्याण किया इसे मैं आप को सुनाऊँगा। आप समाहित चित्त से इस प्रसंग को सुनने की कृपा करें।"

### छप्पय

हे अच्युत! अखिलेश दया देवनि पै कीजै।
दुखी द्वार पै परे दयानिधि दरशन दीजै॥
विभो भये ऐश्वर्य हीन तब चरननि आये।
रिपुनि स्वर्ग तैं भ्रष्ट करे हम मारि भगाये॥
विधि विनती विश्वेश सुनि, तुरत तहाँ परकट भये।
सुर गन हरि दरसन लहे, अति प्रसन्न सब ह्वै गये॥

---

# भगवान् की सुरों को सम्मति

( ५१२ )

हन्त ब्रह्मन्नहो शम्भो हे देवा मम भाषितम् ।
शृणुतावहिताः सर्वे श्रेयो वः स्याद्यथा सुराः ॥
यात दानवदैतेयैस्तावत्सन्धिर्विधीयताम् ।
कालेनानुगृहीतैस्तैर्यावद् वो भव आत्मनः ॥*
( श्री भा० ८ स्क० ६ अ० १८, १९ श्लो० )

छप्पय

सुर प्रसन्न अति भये विष्णु की करिकें झाँकी।
कीन्हीं गद् गद् गिरा सबनि मिलि बिनती बाँकी ॥
है प्रसन्न खिलवाड़ करन कूँ बोले नटवर।
मम सुर सम्मति सुनो करो मिलि के सब सत्वर ॥
कच्छ छिपावै अङ्ग ज्यों, त्यों निजभाव छिपाइ कें।
असुरनि तें कछु काल कूँ, करो मित्रता जाइ कें ॥

सब जानते हैं भगवान् ने सीताजी का उद्धार और रावणादि का बध बन्दरों और भालुओं की सहायता से किया था। जिसकी

---

*श्री भगवान् देवताओं से कह रहे हैं—"हे चतुरानन ! हे शङ्कर तथा हे देवताओं ! तुम सब सावधान होकर मेरी सुनो। देवताओ ! जिस प्रकार तुम्हारा कल्याण होगा वह बताऊँ। अच्छा जाओ ! पहिले तुम तब तक दैत्यदानवों से सन्धि करलो जब तक तुम्हारे अभ्युदय का समय न आवे क्योंकि अभी काल उनके अनुकूल है।

भ्रुकुटि विलास से असंख्यों ब्रह्माण्ड बनते हैं और लीन होते हैं, उसे किसी कार्य में अन्य की अपेक्षा ही क्या हो सकती है ! जो सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं, जिनकी सत्ता के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता उनकी आदि शक्ति भगवती जगदम्बा का उद्धार ये बन्दर भालू क्या करेंगे ? किन्तु वे तो कौतुक प्रिय हैं, उन्हें जब खेल करने की इच्छा होती है तो ऐसी ही अनेकों लीलायें रचते हैं। रोते रोते सुग्रीव के समीप गये, मेरी प्रिया का पता लगादो, मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। उसके संदेह करने पर अपने बल की परीक्षा दी। सभी दिशाओं से वानर भालू बटोरे चार महीने तक रोते बिल बिलाते सीता के विरह में आँसू बहाते सुग्रीव की प्रतीक्षा में गुफा में निवास करते रहे। ये सब नर नाट्य भगवान् भक्तों के निमित्त करते हैं। इसी प्रकार देवताओं के काम को स्वयं अकेले भगवान् संकल्प मात्र से करने में समर्थ थे, किन्तु कुतूहल कराने को समुद्र मन्थन के निमित्त सभी को प्रेरित किया।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन ! जब देवताओं ने पूर्ण भक्तिभाव के साथ आर्त होकर अच्युत की श्रद्धा पूर्वक स्तुति की, तो भक्तवत्सल भगवान् उनके ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त वहीं प्रकट हुए। उस समय उनका तेज सहस्रों सूर्यों के समान था। वे अपनी कान्ति से दशों दिशाओं को देदीप्यमान बनाये हुए थे। भगवान् के ऐसे असह्य तेज के कारण सभी देवताओं की आँखें चका चौंध हो गईं। उस समय उनके नेत्रों में इतना प्रकाश भर गया, कि भगवान् के दर्शन करना तो पृथक् रहा, वे दिशाओं को पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंचभूतों को तथा अपने आप को भी न देख सके।"

इस पर राजा परीक्षित ने पूछा—"तो क्या प्रभो ! सबके सब देवता अन्धे हो गये ?"

हँसकर भगवान् शुक बोले—"अजी, राजन् ! अन्धे तो नहीं हुए, किन्तु प्रकाश इतना अधिक था कि सब की आँखों की ज्योति उस महाज्योति में विलीन हो गई। केवल देवाधिदेव महादेव और कमलयोनि भगवान् ब्रह्मा ने भगवान् के रूप के दर्शन दिये। उस समय भगवान् की शोभा अवर्णनीय थी। सजे बजे श्याम सुन्दर फूले हुए टेसू और कन्नेर वृक्ष के समान शोभित होते थे। मरकत मणि के समान वर्षा कालीन हरी हरी दूब के समान, अलसी के पुष्प के समान, नील कमल के समान, मयूर के कंठ के समान, नवीन जल भरे मेघों के समान, तथा नीलाञ्जन शिखर के समान उनका विशाल व शुद्ध श्री विग्रह चित्त को हठात् अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। पूर्णचन्द्र के समान विकसित आनन पर कमल कोश के सदृश अत्यन्त ही स्निग्धलावण्य युक्त अरुण नयन अपनी शीतल रश्मियों द्वारा शरणागतों को सान्त्वना प्रदान कर रहे थे। भगवान् का त्रैलोक्य पावन जगत् सुखकर सुन्दर शरीर परम पावन पीताम्बर से आवृत था। एक पतले पीताम्बर को पहिने हुए थे, एक कन्धों पर पड़ा मन के समान चंचल हुआ पवन में फहरा रहा था। तपाये हुये सुवर्ण के समान जिसकी अप्रतिम आभा है ऐसा वह कौशेय पीतवर्ण का पतला वस्त्र श्रीहरि के नील वर्ण की श्री विग्रह पर उसी प्रकार लिपटा हुआ था मानों किसी मेघखंड से विद्युत् लिपट गई हो। उनके सभी अङ्गप्रत्यङ्ग सुन्दर, सुडौल, सलोने, सुखकर और सम्पूर्ण शोभाओं से संयुक्त थे। उनका सुमधुर मनोहर मुख जिस पर, नयन, भ्रकुटि अपाङ्ग, पद्म कपोल, गंड

एक चित्ताकर्षक और सुहावने थे। काले काले घुँघराले बालों के ऊपर मनोहर मुकुट दमदम दमक रहा था। कानों के कमनीय कुन्डलों की कान्ति से कपोलों की आभा अत्यन्त ही सुखकर प्रतीत होती थी। जानुलम्बित विशाल भुजाओं में कंकड़ केयूर और बाजूबन्द अत्यन्त ही शोभा दे रहे थे। वक्षस्थल में कौस्तुभमणि इधर से उधर क्षण क्षण में हिल रही थी, मानो उसमें स्थित लक्ष्मी जी की चंचलता को द्योतित कर रही हो।। रंग बिरंगी वनमाला अपनी आभा को दशों दिशाओं मे मानों निरंतर बिखेर रही हो। कटि में कण करती हुई कर्धनी अपने चाकचिक्य से पीताम्बर के भीतर छिपे हुए नितम्बों के प्रतिबिम्ब को व्यक्त करने में व्यग्रतासी प्रकट कर रही थी। सुन्दर विशाल चारों बाहुओं में मूर्तिमान् शंख चक्रादि आयुध शोभा दे रहे थे। भगवान् के ऐसे त्रैलोक्य वंदित रूप को देखकर अन्य सब देव तो सुधि बुधि भूल गये थे, किन्तु देवाधिदेव महादेव तथा ब्रह्माजी ने भूमि में लोटकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। सब की ओर से ब्रह्माजी ने अपने चारों मुख से भगवान् की स्तुति की—

हे प्रभो! आप जन्म स्थिति तथा प्रलय आदि विकारों से रहित हैं। अज हैं अव्यक्त हैं, भूमा हैं, पुराण पुरुष है। अनादि हैं अनंत है। निर्विशेष हैं, निरंजन है, निराकार हैं, निष्फल हैं निरीह और निर्लेप हैं भगवान् अधिक क्या कहें. इस जगत् मे आप ही आप हैं आपके अतिरिक्त किसी की भी सत्ता नहीं। देवगण दुखी होकर आप के चरणों की शरण में आये हैं। इन्हें कोई दुःख से दूर होने का उपाय बताईये। इन भूले हुओं को सन्मार्ग दिखाइये। हमें अपना सेवक शरणागत समझकर अपनाइये। हम सब देवगण आप के अंशरूप हैं जैसे अग्नि से

निकली हुई चिनगारियाँ। आपके विना हम कुछ भी करने में समर्थ नहीं। अतः जो करने से हम लोगों का कल्याण हो, इस समय जो हम सब का कर्तव्य हो उसका आदेश उपदेश दीजिये।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब जितेन्द्रिय होकर समाहित चित्त से देवताओं ने भगवान् की इस प्रकार स्तुति की, तो भगवान् उनसे मेघगम्भीर वाणी में समुद्र मन्थन की सम्मति देने लगे। यद्यपि भगवान् चाहते तो, स्वयं अकेले ही सब कुछ करने में समर्थ थे, किन्तु उन्हें तो कुछ सरस लीला करानी थी अतः देवताओं को सम्मति देते हुए बोले—'ब्रह्माजी आप मेरी बात सुनें। हे शङ्कर! आप भी कान खोलकर सुनें आपने बहुत आकधतूरा खाया, जो मैं सम्मति बताऊँगा आपको भी उसमें सहयोग देना होगा। देवताओं! तुम लोग भी दत्तचित्त होकर श्रवण करो। जो मैं कहूँगा उसी में तुम्हारा कल्याण है। उसके अतिरिक्त जाने का कोई भी दूसरा मार्ग नहीं है।

सभी ने एक साथ हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! आप आज्ञा करें। हमें जो भी आदेश होगा, उसका हृदय से पालन करेंगे।"

इस पर भगवान् ने कहा—"अच्छा तो देखो, एक काम करो। अभी तुम लोग जाकर असुरों से सन्धि करलो।"

देवताओं ने निराशा के स्वर में कहा—"अजी, भगवन्! असुरों से सन्धि कैसे हो सकती है? मेल जोल तो बराबर वालों में होता है। जो विजयी है, बलवान है वह पराजित निर्बल से प्रतिष्ठा पूर्वक सन्धि क्यों करने लगे, फिर भगवन्! स्वभाव तो दुस्त्यज होता है। चूहे और बिल्ली में स्वाभाविक बैर होता है सांप न्योले में सन्धि हो ही नहीं सकती। असुर

हमसे स्वभाव से द्वेष रखते हैं। उनसे सन्धि होना असंभव है।

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई, मैं सदा के लिये सन्धि करने को नहीं कहता। मेरा अभिप्राय यह है कि तुम अभी कुछ काल के लिये उनसे प्रेम करलो।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! ऐसे अस्थाई सन्धि से लाभ ही क्या?"

भगवान् ने कहा—"देखो, जब समय अपने विपरीत हो तो मान अपमान का ध्यान नहीं करना चाहिये। जैसे भी हो सके अपने स्वार्थ को साध लेना चाहिये। बुद्धिमान् वही है जो समय देखकर कार्य करता है। मूर्ख वही है जो समय नहीं देखता। काल के विरुद्ध कार्य करता है। अपमान को आगे करके और मान को पीछे डाल कर बुद्धिमान पुरुष अपना कार्य निकाल लेते हैं। अपने स्वार्थ के लिये तो गधे को भी बाप बनाना पड़ता है।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! दुष्टों की मित्रता अन्त में हानि ही करने वाली होती है।"

भगवान् ने कहा—"भाई, मैं जीवन भर मित्रता निभाने को तो कह नहीं रहा हूँ। इस समय काल उनके अनुकूल है, अतः ऊपर से उनसे मिल जाओ। भीतर से सावधान बने रहो। जब समय देखो, तब पछाड़ देना दाव लगते ही ऊपर चढ़ बैठना उन्हें दबाकर स्वर्ग पर अधिकार कर लेना।"

इस पर शौनकजी ने सूतजी से पूछा—"सूतजी! यह तो भगवान्! छल कपट सिखाने लगे।"

इस पर हँसकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! काहे का छल कपट। संसार में सब ऐसे ही सट्ट पट्ट काम चलता है। धर्म दूसरी वस्तु है राजनीति कहीं उसमे प्रतिकूल भी पड़ती है।

भगवान् ने खेल के लिये जो जो दावपेच बताये उन्हें मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

स्वाभाविक जो प्रेम द्वेष छूटे नहिं, कबहूँ।
करें मित्रता दैत्य करें फिरि भगवन् हमहूँ॥
देवनिकी सुनि बात हँसे प्रभु अन्तर्यामी।
क्रीडा के हित रचें विविध कौतुक सुर स्वामी॥
हरि बोले तब सुरनि तें, स्वार्थ जगत् महँ श्रेष्ठ है।
सधे स्वार्थ जब जादिसों, सोई जग महँ ज्येष्ठ है॥

# स्वार्थ सिद्धि के लिये शत्रु से भी सन्धि करले ।

( ५१३ )

अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे ।
अहिमूषकवद्देवा ह्यर्थस्य पदवीं गतैः ॥*

( श्री भा० ८ स्क० ६ अ० २० श्लो० )

छप्पय

घुस्यो पिटारी माँहि सर्प इक निज भोजन कूँ ।
मोटो मूसक तहाँ घुस्यो काटे कपड़नि कूँ ॥
करी पिटारी बन्द लगायो स्वामी तारो ।
मूसक अतिशय डरै भयो चिंतित अहि कारो ॥
सर्प विचारे भूख वश, जो जाकूँ भखि जाउँगो ।
तो फिरि घुटि के पिटारी, में ही हौं मरि जाउँगो ॥

धार्मिक नियम प्रायः सभी के लिए एक से होते हैं । तीस लक्षणों वाला धर्म मनुष्य मात्र के लिये कहा गया है, किन्तु

---

*श्री भगवान् देवताओं से कह रहे हैं—"देखो, भाई ! कार्य की गुरुता होने पर शत्रु से भी सन्धि कर लेनी चाहिये । जहाँ कार्य सिद्ध हुआ, तहाँ फिर चूहे सर्प वाली नीति को वर्त लेना चाहिये ।

विशेप विशेप अवसरों पर विशेप विशेप व्यक्तियों के कुछ विशेप धर्म हो जाते हैं। उसी प्रकार राजनीति में समयानुसार कभी कभी कुछ ऐसे व्यवहार भी करने पड़ते हैं, जो देखने में धर्म के विरुद्ध से जान पड़ते हैं। वास्तव में राजनीति में एक विशिष्ट स्वार्थ को सम्मुख रखकर व्यवहार किया जाता है। शत्रु को छल से भी जीत लेना वहाँ दोप नहीं माना जाता, अपने स्वार्थ की जिस उपाय से सिद्धि हो राजनीति में वही धर्म माना जाता है। भगवान् तो वांछा कल्पतरु है। उनके पास जो धर्म की इच्छा से जाता है, उसे धर्म का उपदेश देते हैं, जो काम भाव से जाता है उसकी कामनाओं की पूर्ति करते हैं, अर्थार्थी बनकर जाता है उसे अर्थ प्रदान करते हैं और जो मोक्ष की इच्छा से जाता है, उसे संसार सागर से सदा के लिये मुक्तकर देते हैं। बलार्थी को बल देते हैं। छल चाहने वालों को छल की शिक्षा देते हैं, उनके यहाँ किसी वस्तु की कमी नहीं। उनकी शरण जाने वाले की इच्छा पूर्ति तो होती ही है, अन्त में वह मोक्ष का भी अधिकारी बन जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब भगवान् ने देवताओं को यह सम्मति दी कि तुम जाकर दैत्यों से सन्धि करलो तो इस पर देवताओं ने कुछ आनाकानी की अपनी अनिच्छा सी प्रकट की, कि उनसे हमारा मेल होना कठिन है। तब भगवान् उन्हें समझाते हुए बोले—"देखो भैया ! अपने कार्य का गौरव देखकर मान अपमान पर ध्यान न देना चाहिये। यदि छोटा बनने से काम निकलता हो तो छोटा ही बन जाना चाहिये। यदि शत्रु से प्रेम करने पर काम नि हुआ दिखाई दे, तो उससे प्रेम कर लेना चाहिये।

ने अपना काम निकालने को चूहे से कैसे मेल कर लिया था,

इसपर देवताओं ने आश्चर्य के साथ पूछा—"प्रभो ! सर्प

में और चूहे में तो स्वाभाविक वैर है। सर्प ने चूहे से कैसे प्रेम कर लिया था, इस कहानी को आप हमें सुनावें।"

भगवान् ने कहा—"भैया ! वैर होने से क्या हुआ, सर्प को तो अपना काम निकालना था। अच्छा, सुनों मैं तुम्हें इस कहानी को सुनाता हूँ।"

किसी एक धनिक के घर में वस्त्रों की पिटारी रखी थी। उसमें एक बड़ा सा चूहा घुसकर वस्त्रों को काट रहा था। इतने में ही एक बहुत बड़ा काला सर्प भूखा हुआ आहार की खोज में घुस गया। दैवयोग से उसी समय वहाँ स्वामी आ गया, उसने उस पिटारी को बन्द कर दिया। ताला मार कर चला गया। अब तो सर्प और चूहे दोनों पिटारी में बन्द हो गये। सर्प भूखा था, वह चाहता तो चूहे को खा कर अपनी भूख शान्त कर सकता था, किन्तु उसने सोचा अभी मैं चूहे को खाने की शीघ्रता करता हूँ, तो अभी तो मेरा पेट भले ही भर जाय, किन्तु अन्त में मुझे यहीं घुटकर मर जाना पड़ेगा। कोई ऐसी युक्ति निकालो, कि यहाँ से जीवित निकल भी जाय और आहार भी मिल जाय।"

यही सब सोचकर वह चूहे से बोला—"कहिये चूहे बाबू ! क्या हाल चाल है ? आप इतने उद्विग्न क्यों हो रहे हैं ? चित्त स्वस्थ तो है ?"

डरते डरते चूहे ने कहा—"हाल चाल क्या है श्रीमान् ! अपने जीवन की घड़ियाँ गिन रहा हूँ।"

सर्प ने अत्यन्त ही ममत्व के साथ कहा—"क्यों क्यों, क्या बात है ? आप इतनी ही विपत्ति से भयभीत हो गये।"

चूहे ने कहा—"नहीं श्रीमन् ! मैं इस पिटारी में बन्द होने से "

भीत भी नहीं। भय तो मुझे आप से है। न जाने कब आप मुझे निगल जायँ ?"

यह सुनकर सहानुभूति के स्वर में सर्प ने कहा—"अजी, आप कैसी बातें कर रहे हैं ! वैर भाव सदा थोड़े ही रहता है। वह तो समय पर होता है। इस समय हम आप दोनों विपत्ति में हैं, आपस में हम दोनों को मित्रता कर लेनी चाहिये।"

चूहे ने कहा—"अजी, निर्बल और बलवान की मित्रता कैसी ? गौ घास से मित्रता करले तो भूखों मरे। मित्रता तो समानता में होती है।"

सर्प ने कहा—"अब तो हम तुम दोनों समान ही विपत्ति में ग्रस्त हैं। इसलिये आप मुझे अपना मित्र बना लें और दोनों उद्योग करके इस पिटारी से बाहर हो जायँ।"

चूहा तो यह चाहता ही था, उस मूर्ख ने सर्प से मित्रता करली। चूहे ने अपने दाँतों से पिटारी को काटकर एक छिद्र बनाया। सर्प ने जब देखा, अब तो निकलने का मार्ग बन गया है। झट से लपक कर चूहे जी को गप्प कर गया। निकलने का रास्ता भी बनवा लिया और अपनी भूख भी मिटा ली। इसी का नाम कूटनीति है। समय पड़ने पर शत्रु से दब जाय, समय टल जाने पर फिर उसे धर दबोचे।"

भगवान् देवताओं से कह रहे हैं—"देखो भैया ! यह समय दैत्य दानवों के अनुकूल है, तुम्हारे प्रतिकूल है। अतः जब तक अनुकूल समय न आवे तुम्हारा अभ्युदय जब तक न हो, तब तक छोटा बनके दबकर दैत्यों के अधीन बन जाओ। वे बली हैं, तुम दोनों मिलकर समुद्र को मथकर अमृत निकालो। निकल आने पर उन्हें सींग दिखा देना। चूहे की तरह उनसे काम निकलवाकर स्वर्ग से च्युत कर देना।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह तो भगवान् देवताओं को मिथ्याचरण सिखा रहे हैं। क्या यह विश्वासघात नहीं है ?"

इतना सुनते ही सूतजी हँस पड़े और बोले—"अजी, महाराज ! राजनीति में कौन किसका विश्वास करता है। सभी स्वार्थ के वशीभूत होकर व्यवहार करते हैं। संसार में जितने सम्बन्ध हैं सब स्वार्थ के हैं। सात्विक प्रकृति के निःसंग पुरुषों को साधु, महात्मा, विरक्त, भगवद् भक्त, ब्राह्मण तथा सन्यासियों को छोड़ दीजिये इनका काम तो धर्माचरण करना ही है, किन्तु जिन्हें रात्रि-दिन स्वार्थियों में ही रहना पड़ता है, पग पग पर स्वार्थियों से ही काम पड़ता है। अपना भी स्वार्थ छोड़ा नहीं जा सकता, तब इस कूटनीति से काम लेना ही पड़ता है। जो स्वार्थ त्याग कर सकता है वही विशुद्ध धर्म का आचरण कर सकता है। जिसे स्वार्थ साधना है उसे तो जैसे सब करते हैं, वैसे कूटनीति से अपने स्वार्थ की रक्षा करनी ही होगी, हाथ पाँव को बचाना मूँजी को टरकाना, यही साधारणतया नियम है। जान बूझकर किसी के साथ ऐसा कूट व्यवहार न करना चाहिये, किन्तु जब विवश हो जाय, तब किया क्या जाय, इस स्वार्थ पूर्ण संसार में ऐसे ही तो काम निकालना होता है। कहीं निर्बल शत्रु से भी समयानुसार दबना पड़ता है। देखिये मेंढ़क सर्प का भोजन है, किन्तु समय पड़ने पर सर्प को भी मेंढ़क का घोड़ा बनना पड़ा। बलवान होते हुए भी ब्राह्मण को अपनी स्त्री से दबना पड़ा। समय आने पर दोनों ने अपना स्वार्थ साध लिया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मेंढ़क सर्प ..

क्यों बना? ब्राह्मण को दबना क्यों पड़ा इन बातों को हमें बताइये। इस विषय में जो कथा हो उसे सुनाइये।"

शौनकजी की बात सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो! यह कथा अत्यन्त प्राचीन है। मैं उसे आप को सुनाता हूँ उसे आप ध्यान पूर्वक सुनें।"

एक दिन गंगा के किनारे एक दंडी स्वामी ने एक सर्प को देखा। उसके ऊपर मेढ़क चढ़ रहा था और प्रसन्नता से उछल रहा था। सर्प उसे खाता नहीं था नीचा सिर किये चुपचाप बैठा सब सह रहा था। यह देख कर दंडी स्वामी को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे हँस पड़े कि देखो, समय कैसा विपरीत आ गया, जो मेढ़क सर्प का भोजन है, वही आज सर्प के ऊपर चढ़ा है। सर्प उसका वाहन बना हुआ है। सर्प स्वामी जी के मनोगत भावों को समझ गया वहीं से वह बोला—

मेढ़क वाहन हौं नहीं, स्वामी जी! तुम हँसो च्यौं।
अवसर को परखूँ अबहिँ, घृत तैं अंधो विप्रज्यौं॥

यह सुनकर स्वामी जी ने पूछा—"सर्प देवता! आप कैसा अवसर देख रहे हैं। घृत से भला ब्राह्मण कैसे अंधा हो गया? यदि उचित समझें, तो इस कथा को मुझे सुनावें।"

सर्प बोले—"भगवन्! अपना बलाबल देखकर कभी पुरुष को बलवान् होकर भी निर्बल की तरह आचरण करना पड़ता है। आँखें रहते हुए भी अन्धा बनना पड़ता है। अनुकूल अवसर आने पर अपने बल का प्रदर्शन करके प्रतिपक्षी को परास्त किया जाता है। इस विषय में एक प्राचीन कथा है उसे सुनिये।

एक ब्राह्मण देवता थे। अच्छे पढ़े लिखे पंडित थे। पाठशाला में पढ़ाते थे। उनके कोई सन्तान नहीं थी। वृद्धावस्था में वह

मर गई। शोक से उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई, एक युवती से उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया। वृद्धकी पत्नी का जैसा होना चाहिये वैसे ही उनका स्वभाव था पंडित जी से उनकी बनती नहीं थी। वह शरीर से भी हृष्ट पुष्ट थी। पंडित जी का भी शरीर तो अच्छा था पहिली पत्नी इन्हें अच्छी प्रकार खिलाती पिलाती थी, किन्तु जब से यह आई, इसने पंडित जी को घी दूध सब बन्दकर दिया। अपना यथेष्ट खाती और मन मानी करती। घर का जो सामान होता उसे अपने भाई को शनैः शनैः पहुँचाती। पंडित जी को बड़ी चिन्ता हुई। वे दुर्बल भी हो गये थे, उससे कुछ कह भी नहीं सकते। कहते तो वह एक की चार सुनाती। बड़े दुखी थे।

उनके एक युवक मित्र थे। अपना दुःख जाकर उन्होंने इनसे कहा। मित्र ने कहा—"पंडितजी! ऐसे काम न चलेगा। मनुष्य भय से डरता है। भय होता है बलवान् से। आप यथेष्ठ घृत खाइये जब बलवान् हो जायँ, तब उसकी मरम्मत करें।"

पंडितजी ने खेद के साथ कहा—"भैया! तुम कहते तो ठीक हो, किन्तु खाऊँ कहाँ से? तीनों तो उसके पास में हैं। घर की स्वामिनी तो वह बनी बैठी है, जो रूखा सूखा देती है उसी पर निर्वाह करना पड़ता है। स्वयं तो माल उड़ाती है, मुझे बासी कूसी में ही टरकाती है।"

यह सुनकर वह युवक बोला—"अच्छी बात है, मैं आपको एक उपाय बताता हूँ, आप उससे जाकर कहें, कि मुझे आँखों से कुछ कम दीखने लगा है। अब नव दुर्गायें हैं। अष्टमी का व्रत करके नवमी को सायंकाल में दुर्गा देवी का भक्ति भाव से पूजन करो और उनसे प्रार्थना करो मेरी आँखें अच्छी जायँ, तो देवी! मैं तुम्हारी विशेष पूजा करूँगी। ५

जिमाऊँगी।" ऐसी प्रार्थना करने पर अवश्य ही आकाश वाणी होगी।"

पंडितजी ने कहा—"ऐसा करने से लाभ ?"

उस युवक ने कहा—"लाभ तो आप प्रत्यक्ष देखेंगे। वह यह वरदान माँगेगी "मेरे पति की आँखें फूट जायँ।" फिर आप देखना क्या होता है।"

पंडितजी ने कहा—"अच्छी बात है, ऐसा ही करूँगा।" दूसरे दिन उन्होंने जाकर अपनी बहू से कहा—"सुनती है, मुझे कुछ आँखों से कम दीखने लगा है।"

यह सुनकर वह मन ही मन प्रसन्न होकर ऊपर से सहानुभूति दिखाती हुई बोली—"कम कैसे दीखने लगा। अभी आपकी अवस्था भी कुछ अधिक नहीं। इसकी कुछ औषधि कराइये।"

पंडितजी ने कहा—"औषधियों से यह रोग अच्छा होने का नहीं, तुम्हीं चाहो तो अच्छा हो सकता है।"

उसने शीघ्रता से अपने मनोगत भावों को छिपाते हुए कहा—"हाँ, हाँ बताइये बताइये। क्या करने से रोग दूर होगा। मैं वही करूँगी। मेरे तो सब कुछ आप ही हैं।"

पंडित जी ने कहा—कल अष्टिमी है, तुम दिन भर व्रत करो। नवमी को सायं काल में बड़ी भक्ति भाव से दुर्गा देवी की पूजा करो, मनौती मानो, कन्या लांगुरा जिमाने को कहो, तब आकाश वाणी होगी। देवी जो आज्ञा दें वही करने से मेरी मनोकामना पूर्ण होगी।"

पंडितानी ने कहा—"अच्छी बात है। मैं अवश्य इस उपाय को करूँगी।"

दूसरे दिन अष्टिमी आने पर उसने दिन भर निराहार व्रत

किया। दुर्गा देवी को मनाती रही। नवमी को भी कुछ न खाया। पूजा की सब सामिग्री लेकर वह सूर्यास्त होते ही देवी जी के मन्दिर चली गई। कुछ मातायें और भी पूजा कर रही थीं। वे सब करके चली गईं और जब यह अकेली रह गई, तो बड़ी भक्ति से देवीजी की पूजा की। स्नान चंदन पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, सूत्र, इक्षुफल, मालपुआ, फल, ताम्बूल, दक्षिणा आदि समर्पित करके उसने आरती, प्रदक्षिणा की और दोनों हाथ जोड़कर बोली—"हे देवी! मेरे पति की दोनों आँखें फूट जायँ, तो मैं तुम्हारी विशेष पूजा करूँगी। कन्या लाँगुरा जिमाऊँगी।"

पंडितजी के वे सम्मतिदाता मित्र पहिले से ही मन्दिर के ऊपर एक छिपे स्थान में गुप्त बैठे थे। ऊपर से चाँदनी लगी थी। रात्रि में दिखाई नहीं देते थे। वे ऊपर से बोले—"हाँ, तेरी मनोकामना पूर्ण हो जायगी। आज से तू अपने पति को छीलकर पीसकर आधा पाव बादाम की मिंगी आधा पाव शुद्ध गौ का घृत, ११ काली मिरच आधा पाव मिश्री, तीन पाव दूध में मिलाकर नित्य दिया कर। १०० दिन का यह प्रयोग है। १०० दिन इसे खिलाने से आँखें फूट जायँगी। इस बात को किसी से कहना मत कहेगी तो तेरी ही आँखें फूट जायँगी।

उस आकाश वाणी को सुनकर पंडितानी परम प्रसन्न हुई वह तुरंत वहाँ से चली आई और आते ही उसने वे सब वस्तुएँ बना कर पति को दीं। पति ने कहा—"यह क्या है?"

पंडितानी ने कहा—"घृत, मिश्री, बादाम और काली मिरच तथा दूध है।"

पंडित जी ने कहा—"नहीं, नहीं, मैं इन वस्तुओं को नहीं खाऊँगा। इनसे तो और आँखें फूटती हैं।"

पंडितानी को और भी विश्वास हो गया। अतः बोली—"देवीजी की ऐसी ही आज्ञा है। आप अवश्य खायँ। १०० दिन का यह प्रयोग है।"

पंडित जी ने सरलता से कहा—"अच्छी बात है, तू तो मेरी स्त्री ही ठहरी। मेरा अनिष्ट तो करेगी ही नहीं। देवी जी की जो आज्ञा। इतना कहकर उस माल टाल को चुपके से चढ़ा गये। इधर पंडितजी सेब की भांति लाल पड़ते जाते। आँखों में नई ज्योति, शरीर में नवस्फूर्ति, और अंगों में नव जीवन का संचार होता हुआ प्रतीत होता, तो भी वे अपने भावों को छिपाये काल की प्रतीक्षा करते हुए देखते हुए भी अंधे बने रहते।

अब तो कुछ दिनों में पंडितजी ने सर्वथा आँखें मींचलीं हाथ से भी टोह टोहकर चलने लगे। स्त्री जहाँ बिठा देती बैठते जहाँ ले जाती चले जाते। स्त्री को बड़ी प्रसन्नता हो गई। उसने घी की मात्रा और भी बढ़ादी। अब तो वह खुलकर खेलने लगी। जो वस्तु होती उसे ही माँ के यहाँ पहुँचा देती। पंडितजी देखते हुए भी अंधे बने थे। पहिले पंडितजी का निरादर करने में संकोच करती थी। अब प्रत्यक्ष निरादर करने लगती। पंडित जी पानी माँगते तो कह देती "दिन भर तुम्हें कौन पानी देता रहे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! दूसरे दिन उस युवक ने पूछा—"कहो, पंडितजी! क्या हाल चाल है?"

पंडितजी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुये कहा—हाल चाल क्या है भैया! तीर ठीक लक्ष्य पर जाकर लगा। १०० दिन में तो मैं बुढ़े से युवक हो जाऊँगा, इस ओषधि के सेवन से।"

युवक ने पंडितजी के कान में कहा—"महाराज! एक काम

और करें। १०।५ दिन के पश्चात् कहने लगो कि मुझे तो अब और भी कम दिखाई देने लगा है। १० दिन में कह दें अब मुझे कुछ भी नहीं दीखता उसका हाथ पकड़ कर चला करें।" पंडितजी ने तो उसे गुरु बना रखा था, उसने बहू-वशीकरण मंत्र जो बताया था। उसकी सम्मति के अनुसार स्त्री से कहने लगे—"तू मुझे क्या खिलाती है, इससे तो मेरी ज्योति दिन दिन और भी मंद होती जा रही है।" यह सुनकर वह और भी प्रसन्न होती हुई घृत की मात्रा और बढ़ा दी। सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! आपको पता नहीं, गृहस्थ में कितना कष्ट है। यदि भाग्य से घरवाली सती, साध्वी, अपने अनुकूल आचरण करने वाली मिल गई, तबतो गृहस्थाश्रम में कुछ सुखाभास दिखाई भी देता है ! किन्तु महाराज ! ऐसी सहधर्मिणी सहस्रों में किसी एक भाग्यशाली को मिलती हैं, नहीं तो ऐसी ही प्रायः मिलती हैं, जो बात बात पर लड़ती रहती हैं। इतने पर भी मनुष्य इस माया जाल को छोड़ नहीं सकता। सब सहता हुआ उसी में लिपटा रहता है। रात्रि दिन बुरी भली सुनता है। महाराज ! साधारण स्त्रियाँ पति के अपमान करने में अपना बड़ा गौरव समझती हैं। सखी सहेलियों में बैठकर बड़े अभिमान से कहती हैं, वे आये, रोटी माँगी, मैंने कह दिया—यहाँ रखी है लेलो। उस दिन मेरी इच्छा रोटी बनाने की नहीं हुई—मैंने कह दिया, मुझसे नहीं बनती तुम्हें खानी हो बनालो।" इस प्रकार की बातें कह कर वे गर्व का अनुभव करती हैं। देवरों को तो वे फूटी आँखों से भी नहीं देखती। कहीं देवर ने यह कह दिया कि आज साग में नमक कम है, या दाल भली भाँति गली नहीं। तब देखो उनके ठाठ। दस बार उस बात को दुहरावेंगी—"लल्लू ! मुझे तो ऐसा ही

बनाना आता है। अब तुम कोई अच्छी सी पतुरिया ले आओ तो तुम्हें ५६ व्यंजन बना बनाकर खिलाया करे। और न जाने क्या क्या बकती हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए शौनकजी बोले—सूतजी ! अब रहने भी दो। ये सब गृहस्थी के जंजाल हमें क्यों सुना रहे हो ? आप तो घी के अंधे हुए ब्रह्मण की कथा सुना रहे थे, उसे शीघ्रता से समाप्त करके समुद्र मन्थन की कथा सुनाओ।"

सूतजी भी हँस पड़े और बोले—"ऋषियो ! आप ही धन्य हो, जो गृहस्थ जंजाल से बचे हुए हो। महाराज ! यदि आप फँसे होते तो ऐसे दिन भर कथा न सुनते रहते। अच्छी बात है मैं समाप्त करता हूँ। हाँ तो ९९ दिन हो गये तो पंडित जी ने अपना अंधापन छोड़ दिया और पंडितानी का हाथ पकड़ लिया और बोले—"अब तक तो मैं अन्धा था, इसीलिए यह घाँधली चलती रही। अब मेरी आँखों में नव ज्योति का संचार हो गया है, अब यह धाँधली न चलेगी।" हाथ पकड़ते ही पंडितानी समझ गई, कि पंडितजी में अत्यधिक बल आ गया है। वह डर गई। ताली कुञ्जी पंडितजी ने अपने वश में करली उसे खाने भर देते थे। उसी दिन से वह सुधर गई। सो मुनियो ! जब तक बलवान् न बन जाय तब तक सब सहते हुए काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसीलिये भगवानने देवताओं को सम्मति दी, कि तुम दैत्यों से मेल करलो, अपना स्वार्थ निकाल लो जब बलवान् हो जाओ तब फिर उन्हें मार भगाना।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो फिर भगवान् की सम्मति सुनकर देवताओं ने क्या ? वे असुर और दैत्यों के पास सन्धि करने गये या नहीं।"

इस पर सूतजी बोले—"जिस प्रकार परीक्षित् के पूछने पर मेरे गुरु देव ने समुद्र मन्थन की कथा सुनाई थी, असुरों से सन्धि करने जैसे देवता गये। उस प्रसंग को मैं आगे सुनाऊँगा। आप सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

सोचि समझि कें करी मित्रता मूसकतें अहि।
कटवाई संदूक प्रेम की बातें कहि कहि।
जब जान्यो पथ बन्यो तुरत मूसक भखि लीन्हों।
यों वैरीतें मेल करयो कारज निज कीन्हों॥
देवनि तें श्री हरि कहें, ऐसे ही तुम जाइ कें।
दैत्यनि सों मैत्री करो, साधो स्वार्थ फँसाइ कें॥

---

# देवों की दैत्यों से सन्धि

## ( ४१४ )

ततो देवासुराः कृत्वा संविदंकृतसौहृदाः ।
उद्यमं परमं चक्रुरमृतार्थे परंतप ॥*
(श्री भा० ८, स्क० ६ अ० ३२ श्लो०)

### छप्पय

हरि सम्मति सिर धारि गये असुरनि ढिँग सुरगन ।
शत्रुनि आवत निरखि दैत्य सोचें मनही मन ॥
किहि कारन सुर शस्त्र त्यागि हमरे ढिँग आये ।
करि स्वागत सत्कार असुर पति बलि बैठाये ॥
बोले सुरपति सबनि तैं, भाई हैं हम सुर असुर ।
पिता एक माता पृथक्, क्यों फिर झगरैं परस्पर ॥

कहावत है "मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना ।" जितने मूंड़ हैं उतने मत हैं । जैसे सर्वथा किसी के सूरत एक सी नहीं होती, सभी की वाणी भिन्न होती है । सबके हस्ताक्षर एक से नहीं होते । यहाँ तक कि अँगूठे की रेखायें पैर की रेखायें ये भी सब भिन्न भिन्न होती हैं । एक ही रजवीर्य से पैदा हुए, एक ही उदर से

---

*श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! इसके अनन्तर देवता और दैत्यों ने परस्पर में मित्रभाव से सन्धि कर ली । अब वे दोनों मिल कर अमृत प्राप्ति के लिये परम उद्योग करने लगे ।

उत्पन्न हुए भाई बहिनों में आकाश पाताल का अंतर होता है। यदि जगत् में एक का स्वार्थ दूसरे के स्वार्थ से आबद्ध न होता, तो भी एक दूसरे से पृथक रहते। कोई किसी से बात भी न करता, किन्तु स्वार्थ ने इस विभिन्नता में भी एकता कर दी है। एक स्वार्थ के लोग विभिन्न विचार के होने पर भी स्वार्थवश मिल जाते हैं। व्यापार में भिन्न भिन्न सम्प्रदाय, भिन्न भिन्न मत के लोग मिल कर व्यापार करते हैं। राजा के यहाँ भिन्न भिन्न मत के सेवक एक ही स्वार्थ के कारण एकत्रित कार्य करते हैं। चोरों में भिन्न मत भिन्न विचार भिन्न भिन्न रुचि के मनुष्य होते हैं, किन्तु सभी का चोरी का एक स्वार्थ होने से दल बनाकर चोरी करते हैं, डाँका डालते हैं, लूटते हैं और लूट के माल को नियमानुसार बाँट लेते हैं। संसार में स्वार्थ का प्रेम है, शाठ्य मिश्रित सौहार्द्र है, जिनकी अनित्य भोगों में नित्य बुद्धि है, असत् को सत् समझे बैठे हैं, वे स्वार्थ रहित प्रेम की कल्पना भी नहीं कर सकते।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब भगवान ने देवताओं को दैत्यों से सन्धि कर लेने की सम्मति दी तब देवताओं ने पूछा—"महाराज! उनसे सन्धि करके कार्य कौन सा करें?"

इस पर श्रीअजित भगवान् बोले—"देखो, दैत्य बड़े बली हैं। तुम दोनों मिल कर क्षीर सागर से अमृत निकालने का यत्न करो।"

देवताओं ने कहा—"प्रभो! अमृत से क्या होगा?"

भगवान् ने कहा—"होगा क्या, अभी तुम लोगों ने देखा असुरों की ओर जो मरे उन्हें तो शुक्राचार्य ने अपनी मृतसंजीविनी विद्या से जिला लिया। तुम्हारी ओर उस विद्या को जानता नहीं तुम्हारे गुरु बृहस्पति जी भी उससे अनभिज्ञ

इसी लिये तुम्हारी ओर के बहुत से देवता मर गये। यदि अमृत निकल आवेगा तो उसे पीकर तुम लोग अमर हो जाओगे। फिर कितना भी युद्ध करो, मरोगे नहीं। तुम सबके सब मरण-धर्मा देव अमर बन जाओगे।"

देवताओं ने उल्लास के साथ पूछा—"तब, भगवन्! वह अमृत निकलेगा कैसे। समुद्र तो अगाध है उसमें जाने कहाँ अमृत छिपा हुआ है?"

भगवान् ने कहा—"भाई ऐसे अमृत दिखाई थोड़े ही देगा। जैसे दुग्ध के कण कण में घृत व्याप्त है, युक्ति से जमा कर मथने से उसमें से घृत निकलता है पहले दूध में जामन डालकर जमाया जाता है, फिर रई में रस्सी डालकर निरन्तर मथा जाता है मथते मथते ऊपर घृत आ जाता है छाँछ पृथक् हो जाता है।"

देवताओं ने पूछा—"अच्छा तो महाराज! यहाँ किस वस्तु को जामन के स्थान पर डाले। रई किसकी बनावें, दाम-रस्सी किसकी हो। मथें किस प्रकार?"

भगवान् बोले—"एक काम करो। जितनी भी सुन्दर सुन्दर अमृत स्रावा औषधियाँ है, जितना लतायें हैं, घास हैं तथा जड़ी बूटियाँ हैं सबको उखाड़ उखाड़ कर समुद्र में डाल दो। सबसे श्रेष्ठ मन्दराचल पर्वत की रई-मथानी बनाओ और वासुकिनाग को नेति, दाम अथवा रस्सी बनाकर तुम दैत्य दानव दोनों मिलकर उसे मथो।"

देवताओं ने कहा—"अजी, महाराज,! हमसे यह सब कैसे होगा। इतना बल हम में कहाँ है।"

भगवान् ने आश्वासन देते हुए कहा—"अरे, देवताओ! तुम यार! ऐसे ही क्लीवके क्लीव ही रहे। हृदय की दुर्बलता,

क्लीवता को छोड़कर उत्साह से इस काम को करो। मैं तुम्हारे साथ तो हूँ, मुझे न भुलाकर मेरे साथ रह कर तुम यदि मथोगे तो तुम्हें कोई भी कष्ट न होगा।"

देवताओं ने कहा—"हाँ, महाराज! यह तो सत्य है, आप जब हमारे साथ रहेंगे, तब फिर हमें क्यों कष्ट होगा। किन्तु भगवन्! जब असुर हमारे साथ साथ बराबर परिश्रम करेंगे, तो उन्हें भी अमृत बराबर मिलेगा।"

भगवान् बोले—"देखो, जो लोग मुझे भुलाकर कर्म करते हैं, इनको केवल कर्म का श्रम ही श्रम मिलता है। जो लोग अपने को व्यर्थ ही ज्ञानी मानकर अभिमान पूर्वक कर्म करके कठिनता से उच्च पद को प्राप्त हो जाते अन्त में ऊपर चढ़कर भी वे फिर गिर जाते हैं, क्योंकि उन्होंने मेरे चरणों का आश्रय ग्रहण नहीं किया, और जो सब कार्य मेरा स्मरण करके, मेरी सेवा समझकर, कर्त्तव्य बुद्धि से करते हैं और करके सब मुझे समर्पण कर देते हैं, तो उन्हें कर्मजन्य श्रम भी नहीं होता और महाफल के अधिकारी भी बन जाते। तुम्हारे साथ असुर परिश्रम तो समान ही करेंगे, किन्तु अमृत का मीठा रस तुम्हें ही मिलेगा, दैत्यों के भाग तो केवल क्लेश ही आवेगा। इसलिए तुम लोग जैसे बने तैसे फुसलाकर उन्हें समुद्र मंथन के लिये अपने अनुकूल बना लो।"

देवताओं ने कहा—"अजी, भगवन्! वे दुष्ट बड़े हठी हैं। इनकी उलटी खोपड़ी है, जिस बात पर अड़ जाते हैं उसी को करके छोड़ते हैं।

भगवान् बोले—"अड़ जाने दो। भैया। हमें तो अपना काम निकालना है। इस समय वे लोग जैसा भी कहें तुम उसी का समर्थन करना। बिना सोचे समझे उनकी हां में

मिलाते रहना। भैया, यह नीति है, शान्ति से बिना खट पट किये जैसे काम बन जाता है, वैसे क्रोध करके लड़ाई झगड़ा करने से नहीं बनता।

देवताओं ने कहा—"महाराज! मथने पर भी उसमें से अमृत न निकला तो? या अमृत न निकल कर कोई अन्य अन्य ही वस्तु निकली तब क्या करें?"

भगवान् बोले—"जब तक अमृत निकले नहीं तब तक तुम निरन्तर मथते ही जाना, निराश मत होना। सर्व प्रथम इन औषधियों और समुद्र का विकार रूप विष ही निकालेगा। उस विष को देखकर डर मत जाना, हतोत्साह भी न होना, कि इसमें तो पहिले ही पहिल विष निकला।"

देवताओं ने पूछा—"प्रभो! विष ही निकलेगा या और भी अमृत के अतिरिक्त वस्तुएँ निकलेंगी?"

भगवान् बोले—"अमृत विष के अतिरिक्त बड़े सुन्दर सुन्दर एक से एक अद्भुत रत्न निकलेगें। उन रत्नों को देखकर फिसल मत जाना उन्हें लेने के लिये मन में लोभ मत करना। प्राप्त करने के लिये क्रोध करके युद्धादि भी मत करना।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् असुरों को समझा कर, उन्हें कूटनीति की युक्ति बता कर तुरन्त उसी स्थान पर अन्तर्धान हो गये, सबने भगवान् के अव्यक्त सच्चिदानन्द स्वरूप को प्रणाम किया। फिर ब्रह्माजी बोले—"अच्छा, भैया! मैं तो जाता हूँ! मेरे लिये तो तुम दोनों ही एक से हो। बड़े बूढ़ों का ऐसे कार्यों में सम्मिलित होना उचित नहीं।" यह कहकर ब्रह्मा जी अपने लोक को चले गये। शिवजी ने भी कहा—"अच्छा, भैया! अब मुझे भी

अनुमति दो। मैं तो तुम्हारे साथ ही हूँ। फिर आवश्यकता समझो तो बुला लेना। यह कहकर वे भी कैलाश को चले गये।

अब देवता भली भाँति सज बजकर असुरों की राज-सभा में गये। वहाँ जाकर देखा त्रैलोक्य के सिंहासन पर प्रह्लादजी के प्रौत्र परमदानी महाराज बलि विराजमान हैं। वे पूर्ण शोभा से सम्पन्न हैं। राज्य श्री ने उन्हें वरण कर रखा है। सिंहासन पर वे इन्द्र के समान शोभित हो रहे हैं। चारों ओर शम्बर, अरिष्टनेमि तथा और भी बड़े बड़े बुद्धिमान असुर बैठे हुए उसकी उपासना कर रहे हैं। सभा भवन की रक्षा के लिये प्रहरी तथा सैनिक खड़े हैं। बहुत से सेनानायक बलि की सभा में बैठे हैं। देवताओं को एक साथ अपनी ही ओर आते देखकर सब सैनिक अस्त्र शस्त्रों को सम्हाल कर युद्ध के लिये तत्पर हो गये। प्रधान सेनानायक ने सब को सुव्यवस्थित खड़े होने की आज्ञा दी। अन्य सेनानायक सम्हलकर प्रहार करने को तत्पर हो गये।

देवताओं को निःशस्त्र देखकर और युद्ध के लिये तनिक भी उद्यत न देखकर महाराज बलि ने प्रधान सेनानायक से पूछा "तुम सब लोग किस से युद्ध करना चाहते हो ?"

सेनानायक ने कहा—"अन्नदाता! हमारे पुराने शत्रु देवता मिलकर हमारी ओर आरहे हैं उन्हें हमें पकड़ना है परास्त करना है।

हँसकर महाराज बलि बोले—"अरे भाई, जो युद्ध करने आता हो, उसी से तो लड़ना चाहिए। देखते नहीं देवता खाली हाथ आ रहे हैं इनके पास न कोई अस्त्र शस्त्र हैं न युद्धोपयोगी अन्य ही उपकरण। ऐसी अवस्था में युद्ध के लिये

समुत्सुक होना अनुचित है। प्रतीत होता है, ये किसी विशेष प्रयोजन से मेरे पास मैत्री भाव से आये हैं। इस दशा में मैं इनका हृदय से स्वागत करूँगा। तुम सब प्रधान प्रधान कर्मचारी आगे जाकर सत्कार पूर्वक इन सब को मेरे समीप ले आओ।"

बलिजी की ऐसी आज्ञा सुनकर प्रधान मंत्री प्रधान सेनानायक तथा अन्यान्य सचिव सुरों के समीप गये और उन्हें सत्कार पूर्वक बलि के समीप ले आये। बलि ने उठकर उनका आदर किया और बैठने के लिये सब को यथा योग्य आसन दिये। महाराज बलि ने पाद्य अर्घ्यादि देकर उन सब की पूजा की और आने का कारण पूछा।"

बलि के पूछने पर इन्द्र ने कहा—"महाभाग! हम आपके पास एक विशेष कार्यवश आये हैं। हमारा एक प्रस्ताव है, यदि आप उसे मानें तो कहें।"

हँसकर बलि ने कहा—"बिना सुने ही हम कैसे कह दें मान ही लेंगे। आप बतावें क्या प्रस्ताव है। उसे सुनकर मैं अपने मंत्रियों से सम्मति करूँगा। फिर जैसी सबकी सम्मति होगी आपसे निवेदन करूँगा।"

इन्द्र ने कहा—"हम सुर असुर सब सगे भाई भाई ही हैं। हम दोनों के पिता तो एक ही हैं। एक ही वीर्य में हम सब हुए हैं। माताओं के पृथक् होने से हमारे नामों में कामों में कुछ भेद हो गया है। फिर भी भाई तो हैं ही, हम चाहते हैं हमारी आपकी लड़ाई सदा के लिये समाप्त हो जाय।"

असुरों ने कहा—"जो बात असम्भव है उसका प्रस्ताव करना व्यर्थ है। हमारी तुम्हारी लड़ाई कभी समाप्त नहीं होने की।"

इन्द्र ने कहा—"अच्छी बात है, लड़ाई न भी समाप्त हो। हम लड़ते ही रहें, तो भी दोनों में से किसी को हानि न हो।" लड़ने पर भी कोई मरे नहीं, युद्ध की इच्छा भी पूरी हो, हानि भी न हो। साँप मरे न लाठी टूटे।"

बलि ने पूछा—इसका क्या उपाय है ?"

इन्द्र ने कहा—"इस क्षीर सागर में अमृत है। हम सुर असुर सब मिलकर मंदराचल को मथानी बनाकर वासुकी से इसे मथें। मथते मथते इसमें से अमृत निकल आवेगा। उसे हम लोग पीकर अमर हो जायँगे इसमें दोनों का ही स्वार्थ है।"

असुरों को यह बात बड़ी अच्छी लगी। वे तो हाहा हूहू धूम धड़ाके वाले कार्यों को उत्तम समझते हैं। इन कार्यों में उनको बड़ी रुचि है। असुरों ने सोचा—"इन देवताओं को उल्लू बनायेंगे। परिश्रम तो इनसे यथेष्ट करायेंगे, किन्तु जब अमृत निकलेगा, तो उसे हम लोग ही पी जायँगे। ये दुर्बल हमारा क्या कर सकते हैं ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! असुरों के मन में पहिले ही पाप आ गया।"

इस पर शौनक जी बोले—"महाभाग सूतजी ! पाप तो देवताओं के मन में भी था। वे तो असुरों को छलने ही आये थे।"

इस पर सूत जी बोले—"हाँ भगवन् ! यह सत्य है ; देवता भी असुरों की वञ्चना ही करना चाहते थे, किन्तु स्वतः नहीं भगवान् की आज्ञा से। जो भगवत् आज्ञा मानकर कार्य करता है, उसे उसका परिणाम नहीं भोगना पड़ता। वह तो भगवान् की आज्ञा का पालन कर रहा है। ये असुर तो अपने

को ही सब कुछ समझ कर देवताओं को ठगना चाहते थे। उन्हें तो अपने बल का भरोसा था। देवताओं को भगवान् का भरोसा था। जिसे भगवान का ही एक मात्र भरोसा है, उसका कभी अकल्याण नहीं होता।"

शौनकजी ने कहा—"अच्छा ठीक है, हाँ तो आगे की कथा सुनाइये।"

सूतजी बोले—"हाँ तो महाराज ! फिर क्या था अब दोनों में परस्पर में सन्धि हो गई। एक ने दूसरे की बात सहर्ष स्वीकार कर ली और दोनों मिलकर अमृत प्राप्ति के लिये महान् उद्योग करने लगे। सबसे पहिले सब मिलकर मन्दराचल को उखाड़ने चले।"

### छप्पय

करि कैं सब पुरुषार्थ उदधि तैं अमृत निकारैं।
मरन धरम कूँ त्यागि अमर बनि मृत्युहिँ मारैं॥
लड़ैं परस्पर वीर मरैं नहिँ कोई रन महँ।
मन महँ हो विद्वेष घाव होवै नहिं तनमहँ॥
असुरनि सुर सम्मति सुनी, साधु साधु सब ने कही।
अमृत निकारैं मिलि उभय, बात जिदी पक्की रही॥

---

आगे की कथा २२-वें खण्ड में पढ़ें